धर्म का स्वरूप आधुनिक अमेरिका में

…र्ट डब्ल्यू० श्नेडर

धर्म का स्वरूप

आधुनिक अमेरिका में

लेखक

हर्बर्ट डब्ल्यू. श्नेडर

ग्रंथ-संख्या	२३५
प्रथम संस्करण	संवत् २०२०
प्रकाशक तथा विक्रेता	भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद
मूल्य	५.०० न. पै.
मुद्रक	श्री बी. पी. ठाकुर लीडर प्रेस, इलाहाबाद

अनुक्रम

क्रान्तिकारी युग में धर्म

विश्राम-दिवस का रूपान्तरण

मुझे वह दिन याद है जब मेरे गाँव की मुख्य सड़क पर मोटरगाड़ी दिखाई दी थी, क्योंकि मेरा जन्म वर्तमान शताब्दी के शुरू होने के कुछ पहले ही हो चुका था। मेरा गाँव एक आम कस्बे से भौगोलिक या सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत दूर नहीं है। मुझे वह दिन भी स्मरण है जब शहर में पहली बार फिल्म दिखाई गई थी। उन दिनों हमारे शहर में लोग रंगमंच के काफी खिलाफ थे क्योंकि यह व्यर्थ का तमाशा गिर्जाघर की प्रार्थना से अधिक मनोरंजक था, और यद्यपि यह उतना 'ईश्वर-विरोधी' कृत्य नहीं था जितने कि बेकार के नाच-तमाशे, शराबखोरी, जुएबाज़ी और ताशबाजी थे, फिर भी यह 'सांसारिक' बात तो थी ही और इसलिये दंभपूर्ण थी। उस गांव के जीवन में, शक्ति के उत्पादक, शिक्षणात्मक एवं रचनात्मक उपयोग तथा दूसरी ओर खेळ-तमाशों और उत्तेजना के उन विविध रूपों में जो प्रलोभक थे और जीवन के गंभीर व्यापार से ध्यान खींचने वाले थे, एक आधारभूत नैतिक भेद किया जाता था। न तो हमारी धार्मिक और न शैक्षिक संस्थाएँ प्रलोभक थीं या होना चाहती थीं। ये गंभीर विषय की चीजें थीं; शिक्षा इसलिए गंभीर थी कि वह उत्पादक थी, धर्म इसलिए गंभीर था कि वह गंभीरता पैदा करता था।

जब शहर में फिल्में और मोटरगाड़ियाँ आयीं तो उनसे बड़ी सनसनी फैली। पहले तो इन चीज़ों को किसी ने गंभीरता से न लिया, पर उनकी निन्दा करने से भी कोई लाभ न था। उस समय तो वे चीजें बिल्कुल निर्दोष

मालूम पड़ती थीं। यद्यपि कुछ बड़े विचारशील दूरदर्शियों को उनका परिणाम व्यापार, नैतिकता, शिक्षा और धर्म पर क्या होगा, यह दिखाई दे रहा था, पर अधिकांश लोगों ने तो उन्हें केवल अनिवार्य समझकर ही स्वीकार कर लिया।

आयोवा के धार्मिक, सांप्रदायिक गाँव अमाना जैसे कुछ स्थान ऐसे भी थे जिन्होंने साफ-साफ और जल्दी ही देख लिया था कि वहाँ के युवक शीघ्र ही फिल्मों को गिर्जाघर की प्रार्थना की अपेक्षा अधिक गंभीरता से लेने लगेंगे, इसलिए उन्होंने अपने समाज में सिनेमा का प्रवेश ही नहीं होने दिया। बीस-तीस वर्ष तक ये धार्मिक भक्त लोग अपने नवयुवकों को सिनेमा वाले शहरों की ओर जाते हुए मजबूर-से देखते रहे। पुरानी पीढ़ी ने इस प्रकार सिनेमा के विरुद्ध अंत तक बनाये रखा। लेकिन अधिकांश धार्मिक अमरीकियों ने अपनी अचेतन सामान्य बुद्धि से फिल्मों और मोटरों को या तो भोलेपन से या निर्विकार भाव से स्वीकार कर लिया। वही बात हाल में रविवासरीय पत्रों, किस्से-कहानियों, जाँज़-संगीत (और उसके परिणाम), हवाई जहाज़, रेडियो और टेलिविज़न के शीघ्रतापूर्ण प्रसार के बारे में भी कही जा सकती है। धार्मिक लोगों ने अवश्य ही उनके विरुद्ध छुटपुट या संगठित रूप से विरोध, भय या घृणा का प्रदर्शन किया। पर कुल मिलाकर बीसवीं शताब्दी के इन आविष्कारों ने अमरीका के जन-जीवन के ढंग, आदर्श और रुचियों में इतनी तेजी से क्रांति ला दी कि लोग यह नहीं जान पाये कि नीति और धर्म पर इनके क्रांतिकारी परिणाम क्या होंगे।

१९०५ में इस शताब्दी के मोड़ पर एक बड़े उदार उपदेशक ने धर्म के परिवर्तित रूप और उसके शाश्वत सार के बारे में ऐसी बातें कही थीं जिनका व्यापक प्रसार हुआ :

१७९४ ई० में जब मेरे पिता का जन्म हुआ था तो कोई भी जीवित मनुष्य अब्राहम से अधिक तेज यात्रा नहीं कर सकता था। ये आश्चर्य-जनक परिवर्तन उसके बाद आये हैं परन्तु चार, छः या दस मील प्रति

घंटे के बजाय मुझे ५० मील प्रति घंटे का सफर क्यों करना चाहिए ? माना कि यह एक बड़ी सुविधा है, पर यह कोई जरूरी नहीं है कि मैं एक अच्छा ही आदमी होऊँ, और जिस संदेश को लेकर मैं दौड़ता हूँ वे शायद ऐसे जरूरी, दयालुतापूर्ण, न्याययुक्त एवं मानवोचित न हो। हमारी सभ्यता इस पर निर्भर है कि हम क्या हैं न कि हम क्या करते हैं या उसे कितनी तेजी और आश्चर्यजनक ढंग से करते हैं।

यद्यपि हम डा० सैवेज की पुरानी सभ्यता और आत्मसंतोषी नैतिकताओं पर मुस्करा सकते हैं; पर हम स्वयं अपनी कथनी और करनी में अंतर रखकर उसी प्रकार के नैतिक उपदेश देने में तत्पर रहते हैं। तेज़ गति का न्याय से अथवा सस्ते मनोरंजन का दयालुता से भला क्या संबंध हो सकता है ? आज भी ऐसे धार्मिक नेता हैं जो शुद्ध 'धर्मनिरपेक्ष' आविष्कारों के प्रति उपेक्षा का दावा करते हैं और जो यह भी सोचते हैं कि बुनियादी तौर पर तब से अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यह सच है कि ये आविष्कार अपने आप में भौतिक और बाह्य चीजें अथवा साधनमात्र हैं, पर अब हर एक इस बात को जान गया है कि अपने परिणामस्वरूप इन आविष्कारों में न केवल हमारे विचार-प्रकाशन के ढंग में परिवर्तन ला दिया है बल्कि इसमें भी कि हम क्या सोचते हैं और करते हैं। इन नये आविष्कारों के द्वारा दिये गये नये अवसरों और दिशाओं में हमारी रुचियों के विस्तार में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है।

इन आविष्कारों ने अमरीकी संस्कृति में जो आम क्रांति ला दी है मैं उसका वर्णन नहीं करूँगा, क्योंकि उसके तथ्य सभी को मालूम हैं। साथ ही मैं यह भी याद नहीं दिलाऊँगा कि इन आविष्कारों से पहले जीवन कैसा था, क्योंकि हो सकता है कि मैं 'सादे जीवन' की ही प्रशंसा करने लग जाऊँ। संभवत: मैं अपने मित्र जोसेफ हैरोटूनियन के इस कथन से सहमत हूँ कि हम बहुत-सी अच्छी चीजों की लालसा में पड़कर अच्छाई से प्रेम करना खो बैठे हैं। जब हम पर लगातार नये और अच्छे अवसरों द्वारा अपनी बढ़ी हुई क्रय-शक्ति का उपयोग करने के लिए जोर डाला

जाता है तो यह पूछना असामयिक प्रतीत होता है कि हम वास्तव में अद्यतन रहना चाहते हैं या नहीं, क्योंकि सम-सामयिक सभ्यता की उपेक्षा करके कोई सभ्य कैसे हो सकता है ? किंतु जब वस्तुओं के लिए होने वाली भाग-दौड़ हमारा ध्यान स्थायी संतोष से हटाकर अपनी ओर आर्काषित करती है तो हम पीछे देखते हैं और उस जमाने की सादगी को ही आदर्श मानने लगते हैं। अधिकांश नैतिक उपदेशों की यही करुण कहानी है। हम सोचते रहते हैं कि शाश्वत या सत्य सत्ता की प्राप्ति हमें, जहाँ हम हैं उसकी बजाय कहीं और होगी, और साथ ही कि हमारी चेतना इतनी भटकी हुई नहीं है जितनी कि हमारी करतूतें। किंतु यहाँ हमारा इरादा नैतिक उपदेश देना नहीं है। मैं तो केवल यह बता रहा हूँ कि किस प्रकार हमारे धर्म और नित्यता के प्यार पर हमारे समय के दबाव का प्रभाव पड़ा है।

प्रारंभ में मैंने इस शताब्दी के बहुत ही आम परिवर्तनों पर ज़ोर दिया है क्योंकि अकेले उनसे ही धर्म में क्रांति आ गयी होती। लेकिन ये परिवर्तन तो हमारे मनों में आये हुए उसी प्रकार के परिवर्तनों, नयी खोजों, नये इतिहास, नये आदर्शों और बदली हुई दार्शनिक विचार-धाराओं के परिणाम थे। आत्मा की इन आंतरिक हलचलों और धर्म पर उसके प्रभाव का वर्णन अगले अध्यायों में किया जाएगा। यहाँ पर हम केवल यह विचार करेंगे कि इन तकनीकी और आर्थिक क्रांतियों का धर्म पर क्या प्रभाव पड़ा ?

प्रारंभ हम चर्च में हाजिरी देने, सैबाथ मनाने आदि धर्म के बाह्य रूपों से करेंगे। १८०० और १७०० की तरह १९०० में भी धार्मिक अमरीकी पैदल या गाड़ियों में चलकर सप्ताह में कई बार धर्मस्थानों में पहुँचते थे। गिर्जाघर समुदाय का केन्द्र हुआ करता था और स्थानीय धर्म-संस्था ही धार्मिक गतिविधियों का केन्द्र हुआ करती थी। छोटे-से गाँव में भी दो-तीन धर्मस्थान आसपास ही हुआ करते थे। परन्तु इस पंथ-वाद या धार्मिक विविधता ने धर्मस्थान या प्रार्थनाघर के सामुदायिक केंद्र

के रूप का विनाश नहीं किया। न्यू इंगलैंड में भी जहाँ का 'सभा-भवन' नगर की एकता का प्रतीक माना जाता था, प्रोटेस्टेंट रोमन कैथोलिक तथा अन्य चर्च 'दिव्य यश के भवन' होने के साथ-साथ समुदायके सदस्यों के मिलने के स्थान भी बने रहे। इस प्रकार गाँव समुदायों का पड़ोस होता था। पास-पड़ोस के लोग विभिन्न धर्मस्थानों को जाते थे, पर उनका व्यवहार एक-सा ही रहता था। चार हज़ार की आबादी के मेरे गाँव में सात गिर्जाघर थे और ग्रामवासी विभिन्न धर्मों के अनुयायी होते हुए भी परस्पर उन सब से एक आत्मिक समुदाय का लगाव अनुभव करते थे। यह लगाव वे उन लोगों के साथ अनुभव नहीं करते थे जो किसी भी चर्च में नहीं जाते थे। शहर और गाँव में इस प्रकार के बहुधर्मी समुदाय भौगोलिक पड़ोसियों के समूह से बनते थे जिनकी परस्पर एक-दूसरे को जानने में सच्ची दिलचस्पी थी। जब वे लोग सभा में जाते या कहीं और मिलते तो उनसे वास्तव में एक समाज बनता था। 'सामूहिक पूजा' केवल पूजा न होकर पड़ोस का सम्मिलन भी होती थी। सप्ताह भर तो ये पड़ोसी अपने-अपने कामों में व्यस्त रहते थे पर रविवार के दिन वे व्यक्तिगत काम छोड़कर, वे वह चीज़ पैदा करते थे जिसे आजकल की व्यापारिक भाषा में सामाजिक संबंध कहते हैं। सप्ताह में एक सभा अपर्याप्त समझी जाती थी। रविवार को सुबह तथा शाम की प्रार्थनाएँ नियम से होती थीं, साथ ही रविवासरीय विद्यालय तथा नवयुवकों की सभाएँ भी होती थीं। सप्ताह के शेष दिनों में प्रतिदिन एक सामान्य प्रार्थना, समितियों की सभाएँ तथा समूह-गान का अभ्यास होता था। लोगों के अवकाश का काफी भाग धर्म-कार्यों में व्यतीत होता था। रविवार को समाज में जाने के अलावा भी आम तौर से लोग मिलनसार बन कर रहते थे। इसके सिवाय रविवार या अवकाश के दिन सार्वजनिक रूप में उपस्थित होना सामाजिक और गंभीरता का परिपालन समझा जाता था। शोरगुल के खेल और प्रतिस्पर्धाओं से लोग बचते थे। घूमने-फिरने, लोगों के घर जाने, पढ़ने और संगीत-साधना में धर्म-साधना से बचा समय लग जाता था। इन सब

क्रिया-कलापों में एकरूपता नहीं होती थी किंतु किसी-न-किसी रूप में सप्ताह में यह एक दिन या तो धार्मिक कृत्यों में लगता या पारिवारिक सामाजिक कार्यों में। कैथोलिकों में भी जो यूरोप में सैबाथ कम मनाते थे, यह रिवाज शीघ्र प्रचलित हो गया।

सामान्य नियम यह था कि रविवार के दिन 'आत्मा-संबंधी' कार्य होते थे। उस दिन के धार्मिक कृत्य 'संसार' से इस अलगाव के अंग मात्र ही होते थे। राजनीति, खेल तथा व्यापार सभी सांसारिक मामले माने जाते थे। रविवार के कार्य अव्यावहारिक तथा व्यस्त जीवन की चिंताओं से मुक्त होते थे। आत्मा का पुनर्निर्माण तथा उसे ऊँचा उठाना ही ईश्वर की शांति का उद्देश्य होता था और इस उद्देश्य की प्राप्ति में वही गंभीरता बरती जाती थी जो कि सांसारिक मामलों में। उस दिन कोई बेकार का मनोरंजन या खेल नहीं होता था।

धर्म-पालन के इस प्रकार के सामुदायिक रीति-रवाजों के बीच ऊपर कहे गए आविष्कार प्रकट हुए। पर भिन्न-भिन्न समुदायों में वे असमान शक्ति से आये। आइए, पहले हम उन 'पैरिशों' के रूपांतरण पर विचार करें जहाँ कि बीसवीं सदी के परिवर्तनों का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। ऐसे पैरिश सारे देश में, शहर तथा गाँव दोनों में पाये जाते हैं कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय अंतर भी हैं जिन पर हम बाद में विचार करेंगे, पर इन बुनियादी परिवर्तनों ने आबादी के सभी भागों पर प्रभाव डाला है। इसलिए किसी भी भौगोलिक क्षेत्र में बहुत बड़े-बड़े अंतर पाये जा सकते हैं, पर ये अन्तर 'वर्गों' के अंतर नहीं हैं।

घरेलू अनीश्वरवाद के चरम सीमा के प्रकार

केवल बहुत ही उग्र आर्थिक मामले धार्मिक रूप में महत्त्वपूर्ण हैं। जो लोग मोटर, रेडियो और अन्य ऐसी चीज़ें नहीं खरीद सकते जिन्हें हम सुविधा की दृष्टि से पुराने धार्मिक शब्दों में 'सांसारिक आवश्यकता' की वस्तुएँ कहेंगे, वे उन लोगों से अलग दिखाई दे जाते हैं जो उन्हें खरीद सकते हैं और खरी-

दते हैं। आम तौर पर ये विभिन्न वस्तुएँ साथ-साथ चलती हैं। जो लोग सोचते हैं कि वे इन्हें खरीद सकते हैं वे यह भी विश्वास करते हैं कि ये सभी आधुनिक आवश्यकता की चीजें हैं। जो लोग सचमुच गरीब हैं और जो सभ्यता की आवश्यक वस्तुएँ नहीं खरीद सकते वे 'गृह मिशन' सहायता-कार्य या संगठित धार्मिक खैरात के पात्र बन जाते हैं चाहे उन्हें सांसारिक खैरात की आवश्यकता हो या न हो। उन पर दया की जाती है---उन्हें धर्म-स्थानों में 'आमंत्रित' किया जाता है, पर उन्हें ऐसा महसूस करने के लिए विवश किया जाता है (जैसे कि वे इस हालत में अनुभव करते ही हैं) कि वे धार्मिक समुदाय के अपने आदमी उसी अर्थ में नहीं हैं जिस अर्थ में अधिक धनवान लोग हैं। यह धार्मिक दरिद्रवर्ग सदा से अस्तित्व में रहा है; वह न शहरी है, न ग्रामीण और न है आधुनिक—वह तो विश्वव्यापी है। पर बीसवीं सदी के अमरीकी जीवन-स्तर के कारण धनी और निर्धन के बीच का सांस्कृतिक अंतर बहुत बढ़ गया है। जिन लोगों के पास बिलकुल कुछ भी नहीं है और जिन्हें आधुनिक आविष्कारों के बुनियादी सांस्कृतिक विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हैं उन्हें न तो परंपरागत धर्म में भविष्य बनाने की आशा है और न क्रांतिकारी राजनीति में। सिवाय ऐसी विशेष हालतों के, जैसी कि उन नीग्रो-समुदायों की है, जहाँ दासता नाम-मात्र के लिए रह गयी है, ये लोग न तो कभी अपना धर्म-स्थान बना पाते हैं और न धर्म में उनकी कोई प्रत्यक्ष दिलचस्पी ही होती है। दरिद्र गोरे लोग तो नीग्रो लोगों की अपेक्षा अवश्य ही कम धार्मिक होते हैं और मिशनरियों को उनकी चिन्ता भी अधिक होती है। इन बहुत ही ज्यादा दलित वर्गों को घरेलू अनीश्वरवादी कहा जा सकता है, पर उनकी अनीश्वरवादिता श्रद्धा की कमी के कारण उतनी नहीं होती जितनी कि विशेषाधिकारों की कमी के कारण। यद्यपि ऐसे लोगों के सुधार की आशा बनी रहती है तो भी धार्मिक दृष्टि से उनका समुदाय विजातीय ही माना जाता है। शहर और गाँव दोनों के ही जीवन में वे बराबर अलग छिटक जाते हैं और अपने सभ्य पड़ोसियों की

दृष्टि में उनका महत्त्व उतना ही कम होता है। सौभाग्य से इस सदी में अब तक ऐसे लोगों का 'वर्ग' अपेक्षाकृत छोटा रहा है।

सामाजिक पैमाने के दूसरे छोर पर करोड़पति लोग हैं। वे भी संगठित धर्म के क्षेत्र के बाहर हैं। वे खैरात के पात्र नहीं है, लेकिन उनकी दृष्टि में बाकी सब नश्वर मनुष्य इसके पात्र हैं। वे धार्मिक संस्थाओं के 'देवदूत' या संरक्षक होते हैं, लेकिन आम तौर पर उस संस्था से अपने आप को ऊँचा अनुभव करते हैं। उनके लिए वे आधुनिक आविष्कार जिनके बारे में हम विचार कर रहे हैं केवल आकस्मिक सुविधाएँ हैं। इनकी वजह से उनके स्तर में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आता क्योंकि उनकी रुचियाँ 'सांसारिक' होते हुए भी आम लोगों की पहुँच के परे होती हैं। ऐसे लोग स्कूल और अस्पतालों की तरह प्रार्थना-स्थानों में भी परोपकारी रुचि दिखाते हैं क्योंकि उनकी निगाह में वे उपयोगी काम कर रहे होते हैं। गिरजाघर में वे कभी-कभी ऐसे ही जाते हैं जैसे किसी अस्पताल में, या तो परोपकार के कारण या फिर बहुत ज़रूरतमंद मरीज़ के तौर पर। एण्ड्र्यू कार्नेगी जैसे, जो चर्च के बजाय पुस्तकालयों को अधिक सामाजिक तथा हितकारी मानता था, परोपकारी लोगों की संख्या वास्तव में बहुत कम है। एक संघ तो फिर भी अपने विवेक से काम ले सकता है, लेकिन एक गैरपेशेवर परोपकारी तो क्या उपयोगी है और क्या नहीं, इस बारे में सर्व साधारण का दृष्टिकोण ही स्वीकार कर लेता है। कुल मिलाकर उसकी दृष्टि से सामाजिक सहायता कोश की स्थापना हाल का सबसे बड़ा आविष्कार है क्योंकि इसकी वजह से वह अनेक छोटी-मोटी चिंताओं से मुक्त हो जाता है।

बहुत धनी व्यक्ति जब धार्मिक कार्यों में पूरी तरह (संरक्षक के तौर पर नहीं) लगता भी है तो ज्यादा संभावना यही रहती है कि वह किसी धार्मिक समुदाय के जीवन में भाग लेने के बजाय उस काम को वह अपने अकेले ढंग से करेगा। रहस्यवाद, अनासक्त शांतिवाद, धर्म विज्ञान, ब्रह्मविज्ञान, तथा आध्यात्मिक शिष्यत्व के रूप में अमरीकी पादरियों को

अकेले या विशिष्ट मण्डली में एकांत-साधना की कला का अभ्यास करने के विविध अवसर मिल जाते हैं। धनियों के बीच इस प्रकार का धार्मिक व्यक्तिवाद कोई नयी चीज़ नहीं है, इसलिए बीसवीं सदी की धार्मिक विशेषताओं का अध्ययन करते हुए हमें इन पर रुकने की आवश्यकता नहीं। इस बात के कुछ सबूत हैं कि धनी अमरीकी उन्नीसवीं सदी की अपेक्षा बीसवीं सदी में कम धार्मिक हैं, लेकिन यह कहना कठिन है कि यह प्रवृत्ति आधुनिक टैक्नोलोजी के कारण ही है। किन्हीं विशेष प्रकार के धार्मिक विश्वासों के कारण तो यह प्रवृत्ति और भी कम है। धनी लोगों के धार्मिक विश्वास होते ही इतने बहुरंगी और अनिश्चित हैं कि उनका विशेष विश्लेषण करने से कोई लाभ नहीं है। एक धनी परोपकारी की अन्तरात्मा जैसी होती है उसका वर्णन एण्ड्रयू कार्नेगी ने अपनी पुस्तक 'सम्पत्ति का सन्देश' में किया है। लकिन सम्पत्ति का यह सन्देश जो आज भी कार्नेगी के दिनों के जैसा है, धनी व्यक्ति का धर्म नहीं, यह उसकी 'अन्तरात्मा' ही है। उसका धर्म अधिकतर बहुत व्यक्तिगत, कुछ परम्परा-भिन्न और पूरी तरह अव्यावहारिक होता है।

आधुनिक शहरी चर्च

धार्मिक संघ या समुदायों की ओर अर्थात् उन लोगों की ओर जिन्हें कि परंपरागत रूप से धार्मिक कहा जाता है, आते हुए पहले हम बड़े शहरी चर्चों पर दृष्टि डालेंगे। इन चर्चों के सदस्य व्यक्तिगत रूप से समृद्धिशाली हैं तथा सांस्कृतिक दृष्टि से आधुनिक हैं, लेकिन वंश-परंपरा या पारिवारिक पृष्ठभूमि की वजह से वे अपने और अपने बुजुर्गों के रहन-सहन में अंतर के प्रति सदा सजग रहते हैं। इसीलिए ये लोग बीसवीं सदी में धार्मिक दृष्टि से जो कुछ बना (या बिगड़ा) है उसका अध्ययन करने के लिए अच्छे उदाहरण हैं। ये चर्च बड़े हैं क्योंकि इनके सदस्य प्रार्थना के लिए दूर से भी, आम तौर पर कार द्वारा, आ सकते हैं। एक टिपिकल शहरी चर्च यद्यपि 'गृह-मिशन' के रूप में निकटवर्ती

भौगोलिक पड़ोस की सेवा कर सकता है, फिर भी उसके सदस्य दूर-दूर के रिहायशी भागों और उपनगरों के होते हैं। इसी प्रकार के एक गाँव के चर्च के सदस्य न केवल पास के कस्बे के धनी व्यक्ति बनेंगे बल्कि मीलों दूर के संपन्न किसान भी। ऐसे चर्च सामुदायिक संगठनों के बजाय सभा या संघ ही ज्यादा होते हैं। स्थानीय के बजाय उनका रूप केन्द्रीय अधिक होता है और इस तरह से आपस में अपरिचित सदस्य चर्च के काम के लिए इकट्ठे हो जाते हैं। चर्च किसी स्थानीय समाज का नहीं होता। यह कुछ ऐसे व्यक्तियों का विशेष संगठन बना देता है जो किसी और ढंग से समूह नहीं कहला सकते। ऐसी सदस्यता भौगोलिक दृष्टि से तो बिखरी होती ही है, साथ ही लचकीली और अस्थिर भी होती है; इसलिए चर्च में इसकी दिलचस्पी भी इतनी तीव्र नहीं होती। परिणामतः चर्च के कार्यों को चलाने के लिए अधिक बड़ी सदस्यता की आवश्यकता होती है। इन हालतों में संगठन तथा उसकी सदस्यता को विस्तृत करने का एक स्वाभाविक आर्थिक कारण रहता है और ज्यों-ज्यों ऐसा चर्च बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों इसमें आकस्मिक तथा भाग न लेने वाले लोगों की हाज़िरी बढ़ती जाती है। छोटे, स्थानीय पैरिशों या मण्डलों को प्रोत्साहित किया जाता है कि वे धार्मिक सीमा के अंदर तथा उसके बाहर भी अपने आपको अधिक मजबूत बनायें। और यह कहना कठिन है कि पादरियों की जिस कमी की अधिकतर चर्च शिकायत करते हैं वह इन प्रवृत्तियों का कारण है या उसका परिणाम। जो भी हो, आधुनिक हालतों में संख्या में कम लेकिन आकार में बड़े चर्च उसकी बजाय ज्यादा काम कर रहे हैं जितना कि छोटे स्थानीय मंडलों द्वारा किया जाता था।

इसके साथ-ही-साथ साधारण सांसारिक कसौटी के अनुसार चर्च की प्रार्थना तथा सेवा के स्तर में भी 'सुधार' हुआ है। अब पेशेवर प्रशिक्षित, अधिक वेतन पाने वाले पादरियों और कर्मचारियों की संख्या पहले से अधिक है। हर चर्च में एक स्टाफ़ पर नियुक्त पादरी, उसका सहायक, वेतन पाने वाले गायक, शिक्षा कर्मचारी तथा सामाजिक कार्यकर्त्ता

आदि होते हैं। चर्च ने 'संस्था' का रूप ले लिया है और इसका बजट पहले से बहुत अधिक बढ़ गया है। पहले से अधिक सदस्य, जिनमें से हरेक के पास कम भार है, पहले के से ज्यादा कुशल 'सेवा' (सर्विस) के लिए खर्च करते हैं। हालाँकि वेतन पाने वाले कार्यकर्त्ता समाज के काम में भाग लेने के लिए सदस्यों को लगातार प्रोत्साहित करते हैं, उनका सहयोग ज्यादा और ज्यादा आर्थिक ही होता जाता है। सामूहिक प्रार्थना में उनका भाग लेना भी अधिक निष्क्रिय हो जाता है। कुछ समय बाद तो लोग गिर्जाघर की प्रार्थना में भाग लेने इसी ढंग से आते हैं मानो वे संगीत-गोष्ठी या नाटक में आ रहे हों। प्रार्थना अब लोक-कला के सामूहिक प्रकाशन के बजाय एक व्यावसायिक क्रिया हो गयी है। मिनिस्टर या पुरोहित पर पहले से ज्यादा ज़िम्मेवारी रहती है। उससे व्यावसायिक क्रिया-कलाप के स्तर की तथा नेतृत्व के क्षेत्र में अधिक कुशलता और कार्य की आशा की जाती है। साहित्य, नाटक, संगीत, स्थापत्य तथा अन्य कलाओं में आलोचनात्मक निर्णय के विस्तार के साथ चर्च को भी बाकी कलाओं के साथ सौन्दर्यात्मक मुकाबले में उतरने के लिए बाधित होना पड़ा है। अब बेढंगी, भद्दी स्वाभाविक प्रार्थनाएँ स्वीकार नहीं की जातीं। इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष कलाओं ने धार्मिक नेतृत्व पर भी सुरुचि के सख्त मानदंड लागू कर दिये हैं।

घनी संगठनों तथा उनके पादरी-नेताओं द्वारा कायम किये गये स्तरों का प्रभाव निम्न-मध्यम वर्ग पर भी पड़ता है। उनके चर्चों का स्तर भी ऊपर से कायम होता है। मुकाबले के दबाव का अनुभव उन्हें भी होता है। क्योंकि, यद्यपि सामान्य व्यक्ति की रुचि आलोचनात्मक नहीं होती, फिर भी, साधारण नागरिक देखता ही है कि आधुनिक आविष्कारों से कुशलता बढ़ जाती है और यदि वह आधुनिक नेतृत्व की नकल या अनुमोदन नहीं करता तो बिना नये मानदंडों को समझे ही वह अनुभव करने लगता है कि वह खुद पिछड़ गया है या स्तर से नीचे है। मानदंड का स्तर ज्यों-ज्यों ऊँचा होता जाता है त्यों-त्यों शक्तियों और पूँजियों

को संगठित करने की प्रेरणा अधिक होती जाती है। सांप्रदायिक बंधन शिथिल पड़ जाते हैं। परिणामस्वरूप बहुत शिक्षित और आलोचनाशील समुदायों द्वारा चलायी हुई प्रवृत्तियाँ आम कस्बों के लिए आदर्श बन जाती हैं।

इन ज्यादा बड़े, अच्छे और संख्या में कम चर्चों में हाज़िरी के तरीकों में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ जाता है। सप्ताह में एक बार कार में चर्च जाना अब 'नियमित' हाज़िरी माना जाता है। एक औसत सदस्य के समय और शक्ति का बहुत कम भाग अब चर्च की गतिविधियों में लगता है। सप्ताह के बीच में औसत व्यापारी और कर्मचारी (यहाँ तक कि किसान भी) १९०० ई० के बजाय आज सामाजिक जीवन से कम अलग रहता है। फैक्टरियों के लोग पहले से ज्यादा मिलनसार हैं। उत्पादन-संस्था के रूप में होता है और आर्थिक गतिविधियाँ सामाजिक मामलों के अधिक निकट हैं। अवकाश का समय अधिक सामाजिक तरीकों में खर्च होता है। इस-लिए रविवार को सामाजिक रूप से बिताने की माँग भी कम है। उस दिन घर पर रहने, पिकनिक पर जाने या किसी और प्रकार से एकांत पाने की ओर प्रवृत्ति अधिक है। और ज्यों-ज्यों, खास कर शहरों में, शनिवार की संध्या तथा रात्रि को (जॉज़-संगीत, नाच, सिनेमा तथा नाटक के रूप में) तीव्र मनोविनोद बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों लोगों का झुकाव रविवार की सुबह आराम करने की ओर होता जाता है। अब तो सारे रवि-वार के ही सामाजिक उद्धार के बजाय विश्राम या सुस्ती में गुजारे जाने की संभावना रहती है। रविवासरीय पत्रों, रेडियो और फिल्मों के द्वारा नपी-तुली मात्रा में उदात्त भावनाएँ पहुँचायी जाती हैं और एक औसत आदमी को उन्हें मनोरंजन के तौर पर स्वीकारने में कोई संकोच नहीं होता है। अभी शायद वह समय नहीं आया है जब निश्चय किया जा सके कि सामूहिक पूजा के तरीकों पर रेडियो और टेलीविज़न का प्रभाव क्या पड़ेगा। लेकिन अभी से ही इस बात से कि रेडियो पर भी चर्च-प्रार्थना की जाती है और वह औसत दर्जे से अच्छी होती है, यह पता

चलता है कि लोगों का झुकाव 'घर तथा एकांत में' पूजा करने की ओर हो रहा है, बशर्ते उसे पूजा माना जा सके। इस तरह से ये आविष्कार परंपरागत पूजा के तरीकों और चर्च की गतिविधियों को यदि नुकसान नहीं पहुँचा रहे तो उन्हें बदल तो रहे ही हैं।

लेकिन परंपरागत धार्मिक रीति-रिवाज़ों के लिए इस बाहरी खतरे की तुलना में धर्म के लिए अधिक महत्त्व की बात वे विभिन्न परिवर्तन हैं जो इन परिस्थितियों में आंतरिक रूप से धर्म में आ गये हैं। अधिक शिक्षित पादरी, अधिक धर्म-निरपेक्ष प्रकार के उपदेश, बहुत ही धर्म-निरपेक्ष संध्या प्रार्थनाएँ (जो व्यवहारतः मनोरंजन ही होती हैं) नाटकीय प्रभाव, सामयिक कथा-साहित्य की समीक्षा, धर्म से असंबद्ध सामाजिक समस्याओं पर विचार-विनिमय, 'बाइबिल-विद्यालयों' के स्थान पर हलकी-सी धार्मिक शिक्षा, और ज्यादा व्यापक धार्मिक प्रेस, ये कुछ ऐसे परिवर्तन हैं जिन पर ध्यान दिया जा सकता है। बहुत-से सूक्ष्म रूपों में, जिनकी विवेचना हम बाद में करेंगे, स्वयं धर्म ने आधुनिक जीवन के तरीकों को स्वीकार कर लिया है। अर्थात् बहुत-सी ऐसी बातें जिन्हें १९०० ई० में सांसारिक माना जाता था; आज के 'उदार' धर्म के पारस्परिक रूप में शामिल कर ली गयी हैं। और यहाँ मैं कोई ब्रह्म-विद्या के आधुनिकतावाद के बारे में बात नहीं कर रहा। मेरा मतलब है कि सिद्धांत और विश्वास में बड़े अंतर के अलावा भी, धर्मनिरपेक्ष जीवन की शक्तियों और आविष्कारों के साथ धार्मिक व्यवहार और गतिविधियों की ऐसी संगति बैठायी गयी है कि धर्म के व्यावहारिक अर्थ और उसके प्रभाव में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया है। चाहे या अनचाहे, धार्मिक संस्थाओं को शुद्ध सांसारिक और प्रकट रूप से असंबद्ध आविष्कारों के दूर-व्यापी परिवर्तनों को स्वीकार करने और उनसे लाभ उठाने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

हठीले धर्मों के प्रकार

अब धर्म के कम आधुनिक बने रूप पर विचार करते हुए हम उन

समुदायों और क्षेत्रों की ओर आते हैं जिनके लिए आधुनिक जीवन के ब्राह्य परिवर्तनों का धर्म के मूलतत्त्वों पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा है। अमेरिका में तथाकथित 'निम्न' मध्य वर्ग आर्थिक दृष्टि से निम्न नहीं हैं—कम-से-कम इतने नहीं हैं कि उन पर ध्यान जाय। उनके पास भी बुनियादी सांसारिक वस्तुएँ हैं और उन्हें कुछ बुनियादी शिक्षा मिली हुई है। लेकिन उनके पास उस बुनियादी से ज्यादा शायद ही कुछ है, और बुनियादी क्या है, क्या नहीं, इसका भाव भी उन्हें उत्तराधिकार में मिला होता है। वे जितने आराम से रह रहे हैं उतने आत्म-संतोषी भी हैं। आज यह संभव है बिना इस बात को जाने बीसवीं सदी में कोई क्रांतिकारी बात हो गयी है कि कोई प्राथमिक और हाईस्कूल की शिक्षा या किसी कालेज द्वारा दी गयी हाईस्कूल की शिक्षा प्राप्त कर ले। और यह संभव है कि स्कूल में मिली शिक्षा में कोई वृद्धि किये बिना बहुत-से अखबारों, पत्रों और पुस्तकों को पढ़ लिया जाय। यह सोचना भी संभव है कि विज्ञान का मतलब केवल टैक्नोलौजी से है और टैक्नोलौजी का मतलब है केवल शारीरिक सुविधाएँ तथा आराम। और ऐसे धार्मिक संगठनों का सदस्य बने रहना भी संभव है जो अपने सदस्यों को इसी प्रकार विश्वासों पर टिकाये रखना चाहते हैं।

ऐसे लोगों के लिए पारिवारिक जायदाद की तरह जीवन का आध्यात्मिक पहलू भी संस्कृति की विरासत में मिलता है। धर्म का अर्थ 'हमारे पूर्वजों का विश्वास' से कुछ भी ज्यादा नहीं है, और संस्कृति का मतलब है केवल एक परंपरा को आगे बढ़ाते रहना। वे गिर्जाघर में उसी सौजन्य तथा संतोष के साथ जाते हैं जैसे कि संगीत-गोष्ठियों में, और उसी प्रकार नियमित रूप से वे अपराध-स्वीकृति (कन्फेशन) करते रहते हैं जैसे कि वे स्नान करते हैं। उनमें से जो कुछ ज्यादा आत्म-चेतन हैं वे धर्म का वैसे ही आनंद लेते हैं जैसे कि अन्य प्राचीन वस्तुओं का—जो कि आदर की पात्र हैं, अभी भी उपयोगी हैं और पवित्र स्नेह दिखाने के लिए बड़ी सुंदर हैं। लेकिन उनमें से अधिकतर सांस्कृतिक दृष्टि से आत्म-

चेतन नहीं है : वे अपने समय के जीवन में ऐसी उत्सुकता से भाग लेते हैं मानो इसके द्वारा वे परलोक में अनंत जीवन के लिए सीधी तैयारी कर रहे हों। यह आवश्यक नहीं कि वे अपने 'विचारों' में रूढ़िवादी हों, लेकिन वह यह मानकर चलते हैं; परमात्मा उनके मूल्यों की रक्षा करता रहता है। बुराइयों से वे खास तौर पर चौंकते हैं और आशा करते हैं कि वे दूर हो ही जायेंगी क्योंकि वे अपना नाश अपने आप करती रहती हैं। केवल अच्छाइयाँ ही स्थायी हैं और युद्ध तथा अन्य तूफानों को पार करके के बची रहती हैं। इसलिए जिस प्रकार उन व्यक्तियों के विश्वास स्थायी हैं उसी प्रकार उनके चर्च भी परम्परागत हैं। लेकिन इस परम्परा और स्थायित्व में भी हाल में जो परिवर्तन आ गया है वह उन्हें मालूम नहीं है।

अमरीकी आबादी का मुख्य भाग ऐसे ही कल्पनाहीन, आत्मसंतोषी लोगों का है जो १९०० ई० से अब तक हुए परिवर्तनों को केवल बाहरी और दिखावटी मानते हैं। अमरीका में प्रचलित आधे से ज्यादा धार्मिक रीति रिवाज़ और विचार इसी प्रकार के हैं। आँकड़ों की दृष्टि से ये लोग औसत पर बैठते हैं। समाजशास्त्री जिसे 'सांस्कृतिक पिछड़ापन' कहते हैं, ये उसके उदाहरण हैं, क्योंकि जिन घटनाओं में से ये गुज़र रहे हैं और जो आराम ये उठा रहे हैं उन्होंने उस भौतिक परिवर्तन के अनुपात में मूल्यों के भाव को नहीं बदला है। वर्तमान अर्थ अभी आने वाले समय के सूचक नहीं बन पाये हैं, और न नये तथ्यों ने नये विचारों को जन्म दिया है। इन हालतों में धार्मिक परम्परावादिता या स्थिरता का वह अर्थ नहीं है जो कि आम सांस्कृतिक स्थिरता के समय में होता। समाजशास्त्रियों ने बहुत ही संकुचित रूप में अपना ध्यान धार्मिक रीति-रिवाज़ के इस ठोस रूप पर केंद्रित किया है और इस प्रकार धर्म को व्यक्तिगत तथा सांस्कृतिक स्थिरता देनेवाला कहा है। लेकिन आम नियम के तौर पर यह धर्म के बारे में उतना ही सही है जितना किसी अन्य संस्था के बारे में। यह कहना अधिक सही होगा कि जो 'सांस्कृतिक पिछड़ापन' सभी संस्थाओं में आ जाता है वह धर्म के इस रूप में प्रकट हो जाता है। यह धर्म सांख्यिकी की दृष्टि से भले ही औसत

पर हो, पर इसका मतलब यह नहीं कि धार्मिक दृष्टि से यह सामान्य या सही है।

अंत में हम आबादी के उस बड़े भाग की ओर आते हैं जो धार्मिक दृष्टि से आत्म-संतुष्ट तो नहीं है पर अपनी बेचैनी को बड़ी पुरानी भाषा में प्रकट करता है। यह उग्र आधारवादियों का समूह है। आर्थिक दृष्टि से अशांत आबादी से इसका कोई निकट संबंध नहीं है, और न ही अब तक राजनैतिक उदारवाद, राजनैतिक रूढ़िवाद या अन्य किसी धर्मनिरपेक्ष विचारधारा से इसका सम्बन्ध सिद्ध किया जा सका है। इसके सदस्यों की भी वे ही बौद्धिक तथा शैक्षिक सीमाएँ हैं जिनका वर्णन हमने अभी किया है, लेकिन वे न तो पूरी तरह 'अधिकार-वंचित' हैं और न पूरी तरह सुरक्षित ही। वे उन्नीसवीं सदी के बचे-खुचे अवशेष हों ऐसी बात भी नहीं है। उग्र आधारवाद विरोध और अशांति का बीसवीं सदी का आन्दोलन है। यह आधुनिक जीवन की आलोचना करता है, पर साथ ही भविष्य के बारे में शंकित है।

'बाइबिल-ईसाइयों' की शुरू की पीढ़ियों में आत्मा और शरीर के बीच द्वैत आमतौर पर स्वीकार किया जाता था, और इस तथ्य को पारंपरिक रूप में लागू करते हुए ही वे बड़े होते थे। इसलिए वे जानते थे कि कैसे इस संसार में रहकर भी इससे अलग रहा जा सकता है। वे दो संसारों में रहते थे : क्षणिक और शाश्वत, इसलिए धार्मिक गंभीरता सांसारिक गंभीरता से उतनी ही अलग थी जितना कि चर्च राज्य से। यहाँ कोई संघर्ष नहीं था, केवल द्वैत था। लेकिन जब बीसवीं सदी में संसार आत्मा के क्षेत्र में प्रवेश करने लगा तो दोनों में अजीब घपला हो गया। उस हालत में उग्र और विरोधी बनना भी आवश्यक हो गया ताकि शरीर के मामलों और आत्मा की मुक्ति के बीच के सुपरिचित भेद को कायम रखा जा सके। उनके द्वैत में विश्वास फिर से लाने का मतलब था कि स्वयं धर्म को सजग होकर पवित्र किया जाय। इसलिए ये प्रतिक्रियावादी विश्वास मुख्य रूप से जिसके विरुद्ध लड़ रहे थे वह था स्वयं आधुनिक या सांसारिक धर्म।

संसार के साथ समझौता किये बैठे ईसाइयों को जो बात अनुचित प्रतीत होती थी वही उन्हें समझानी थी कि पुराना द्वैतवाद युक्तिसंगत होने के साथ-साथ आधार रूप से सही भी था। स्वभावतः ऐसे संदेश की अपील ऐसे वर्गों या समूहों को होनी थी जो कि सांसारिक या आत्मिक कारणों से तात्कालीन प्रवाह से असंतुष्ट हो गये थे। विश्व-संघर्ष और महायुद्ध के युग से पहले ऐसे संदेश बहुत प्रिय नहीं थे। अगर थोड़ा-बहुत आकर्षण उनमें था तो वह जन-नेताओं द्वारा की गयी धन के बढ़ते हुए प्रभाव की आलोचना के कारण था। लेकिन जब आधुनिकता के मुख्य रूप में महायुद्ध और पूंजीवाद सामने आये, और जब आधुनिक ज्ञान ज्यादा और ज्यादा तकनीकी हो गया, तो ये आधारवादी चर्च दिन दूने रात चौगुने बढ़ने लगे। वे खासकर उन वर्गों और इलाकों में बढ़े जिनका विश्वास था कि क्रियात्मक कार्यक्रम के रूप में आत्मा की मुक्ति को आधुनिक संसार के मामलों से बिल्कुल अलग किया जा सकता है। यह धार्मिक अलगाव अवश्य ही प्रतिक्रियावादी है, लेकिन साथ-साथ यह विरोध का सक्रिय आंदोलन भी है। धार्मिक और सामाजिक मामलों के इस अलगाव को ग्यारहवें पोप ने व्यंग्य से 'सामाजिक आधुनिकतावाद' कहा था, क्योंकि इसके अनुसार पादरियों की सहायता लिये बिना भी सांसारिक मामले भली प्रकार चल सकते थे। साथ ही यह सच है कि बीसवीं सदी में यह विचार-धारा उदारवाद का ही एक रूप थी। लेकिन तब यह निंदनीय समझे जाने वाले सामाजिक सुधार और सामाजिक व्यवस्था से बच निकलने का एक उपाय बन गयी। इसलिए उनके विद्रोही स्वरूप और पैगंबरी मिशन को समझने के लिए हमें उनकी सैद्धांतिक तथा पुस्तकीय सतह के नीचे झाँकना पड़ेगा।

रोमन तथा ऐंग्लिकन कैथोलिक चर्चों का परम्परावादी आधारवाद बिल्कुल दूसरे ही प्रकार का है। इन चर्चों में बाह्य रूप या विश्वास की स्थिरता तथा व्यवहार की आधुनिकता में एक स्वनिर्मित अन्तर रखा जाता है। चर्च-प्रशासन के ये अधिकारवादी रूप प्रजातंत्रीय राजनीति तथा आर्थिक बीच-बचाव में उत्सुकता से भाग ले रहे हैं। अब उनके अंदर, कम-से-कम

अमरीका में, वर्ग-चेतनता नहीं है; अपने विचारों में वे न तो रूढ़िवादी ही हैं और न समाजवादी। आधुनिक प्रोटेस्टेंट की तरह कैथोलिक भी मध्यमवर्ग के विचार-प्रकाशन का शक्तिशाली साधन बन गये हैं तथा अमरीकी समाज में संतुलन किये हुए हैं। लेकिन प्रोटेस्टेंट उदारवादियों के विपरीत वे आज भी वही जो कि वे अब तक रहे हैं। यहाँ भी हमें यह जानने के लिए कि ये चर्च समकालीन समाज के संघर्ष में किस प्रकार अपना भाग अदा कर रहे हैं ऊपरी सतह के औपचारिक रूप तथा अधिकारवाद के नीचे झाँकना पड़ेगा। उदाहरण के लिए जब कैम्ब्रिज, मसाचूसैट के सेंट बैनेडिक्ट के केंद्र में फादर लियोनार्ड फी ने तथा उनके कुछ साथियों ने फंडामेंटलिस्ट 'सिद्धांत आंदोलन' चलाना चाहा तो उन्हें ऊपर से यह कहकर दबा दिया गया कि इससे हठधर्मिता को प्रोत्साहन मिलेगा। यहाँ अधिकारवाद ने स्पष्ट कर दिया कि वह अपनी सत्ता को आसानी से भुला दिया जाना नहीं चाहता।

धर्म की बाहरी सम्पन्नता

यह तो स्पष्ट है कि, बहुत से अग्रणी इतिहासकारों तथा समाजशास्त्रियों ने इस सदी के प्रारंभ में जो कुछ कहा था उसके विपरीत, १९०० ई० से अब तक अमरीका में धर्म का ह्रास नहीं हुआ है। १८०० ई० में कुल प्रौढ़ आबादी के लगभग दस प्रतिशत लोग ही चर्च के सदस्य थे, और शायद इनमें से भी तीस प्रतिशत ही नियमित रूप से चर्च जाते थे। उन्नीसवीं सदी में बढ़ते-बढ़ते चर्च के सदस्यों की संख्या १९०० ई० में पचास प्रतिशत हो गयी, और अब कम-से-कम पचपन प्रतिशत व्यक्ति सदस्य हैं। इनके अतिरिक्त पच्चीस से तीस प्रतिशत ऐसे भी हैं जो समझते हैं कि उनका किसी-न-किसी धार्मिक परम्परा से संबंध है और जो व्यक्तिगत रूप में अस्पष्ट प्रकार से धार्मिक माने जा सकते हैं। दस प्रतिशत आबादी से कुछ ही ज्यादा ऐसी है जो धर्म से अपना किसी प्रकार का संबंध स्वीकार नहीं करती। ये आँकड़े, हालाँकि बहुत सही नहीं हैं, पर एक सुपरिचित तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि

हालाँकि धर्म कभी भी धार्मिक संस्थाओं में सक्रिय भाग लेने तक सीमित नहीं रहा, फिर भी उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ के बजाय आज अमरीका में धर्म अधिक संस्थागत है। आम तौर पर सभी मुख्य अमरीकी धर्म फिर से नया जीवन प्राप्त कर रहे हैं और धार्मिक नेताओं को अपने मत के बचाव की चिन्ता उतनी नहीं है जितनी कि एक पीढ़ी पहले थी। लेकिन इस घटना को धर्म का पुनर्जीवन मानने से जो कुछ हो चुका है उसके प्रति ,नासमझी ही ज़ाहिर होगी। धर्म आगे बढ़ आया है या कम-से-कम सामने तो आ गया है, उसने बहुत-सी ऐसी चीज़ें छोड़ दी हैं जिन्हें वह पचास साल पहले पकड़े हुए था और जिन चीज़ों से इसे अब भी प्यार है उन्हें इसने नये अर्थ दिये हैं। कड़वे अनुभवों ने इसे संजीदा बनाया है, कम आशावादी लेकिन ज्यादा शक्तिशाली। यदि यह एक संकट पार कर सका है तो इसीलिए कि इसके पास पर्याप्त समझ तथा आम अमरीकी जीवन में हो रहे पुनर्निर्माण के प्रसंग में अपना पुनर्निर्माण कर लेने की शक्ति है।

स्वभावतः अब तक हुए पुनर्निर्माण की मात्रा से धार्मिक नेता असंतुष्ट हैं और वे स्वयं ही इसकी सबसे तीखी आलोचना कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, गृह-मिशन के क्षेत्र के एक प्रसिद्ध कार्यकर्त्ता, डा॰ हरमैन नैल्सन मोर्स ने इस प्रकार लिखा है:

एक संस्था के रूप में धर्म बढ़ तो रहा है पर पहले से धीमी गति से इसकी बढ़ती हुई सदस्यता का प्रभाव चर्च न जाने वाले लोगों पर काफी नहीं पड़ रहा है। संस्था के रूप में यह शहर तथा खुले देहात दोनों में ही सबसे कमज़ोर है। स्कूल से भी बढ़कर इसके संगठन, क्रियाविधि और दृष्टिकोणों पर उन्नीसवीं सदी की कृषिप्रधान सभ्यता की छाप है। और स्कूल से भी बढ़कर यह ऐसे नेतृत्व पर निर्भर है जिसे प्रशिक्षण तथा सहायता दोनों ही कम मिले हैं। मूलरूप में यह एक अव्यवसायी कार्य ही है। सौ वर्षों में हुए हर सामाजिक परिवर्तन ने इसके महत्त्वपूर्ण क्षेत्र पर प्रभाव डाला है और स्वयं इसका प्रभाव पड़ना बहुत कठिन बना दिया है। अपनी अलग-अलग इकाइयों की स्थापना और व्यवस्था में यह समाज

में हुए भारी परिवर्तनों को लागू करने का आजतक विरोध करता रहा है, और आज भी कर रहा है।

डा० आर० ए० शैरमैरहोर्न ने इस आलोचना का इस प्रकार विस्तार किया है :

विधि-विधान, साम्प्रदायिक राजनीति तथा विभिन्न मतों के बीच दीवार खींचने आदि पर बल देने के कारण चर्च आज की आगे बढ़ती हुई संस्कृति से अलग जा पड़ा है। एक औसत दर्जे का पादरी आज की कला, संगीत और साहित्य की सराहना से ऐसे दूर है मानो ये किसी और नक्षत्र पर हों।....वह चर्च कहाँ है जो नये स्थापत्य के एक अधिक साहसपूर्ण रूप में अपने को अभिव्यक्त करे, या जो आधुनिक कविता के विद्रोह को काबू में ला सके ? एक धर्मगुरु के लिए नेता होना कठिन है जबतक कि वह उस क्षेत्र में सामने की पंक्ति में न आजाय। हमारी संस्कृति के सोये पड़े हुए अनगिनत मूल्यों को अभी धर्म ने छुआ भी नहीं है, लेकिन धर्मनिरपेक्षता पर उसका उन्मत्त आक्रमण बदस्तूर जारी है। यह अविश्वसनीय तो है ही, पर उससे भी बढ़कर यह दुःखद है।

बीसवीं सदी की धर्म निरपेक्षता का कारण यह है कि हमें धर्म में वैसी समृद्ध मान्यताएँ नहीं मिलतीं जैसी कि मध्ययुगीन लोगों को या प्यूरिटन को प्राप्त थीं। उनका क्षेत्र धर्म तक ही सीमित था किन्तु हमारा नहीं। विज्ञान, कला, साहित्य और नाटक, सभी से हमें जीवन की महत्त्वपूर्ण गहराइयों का भाव मिलता है। यह एक ऐसा काम है जो पहले केवल धर्म किया करता था।

धर्मनिरपेक्षता और प्रकृतिवाद की समस्या को सुलझाने का एकमात्र रास्ता उनके बीच में से होकर है न कि उनके बाहर बाहर। जब बिना शिकायत या मजबूरी का अनुभव किये एक बार यह यात्रा कर ली जायगी तो उस हौए का डर नहीं रहेगा। प्रोफेसर लिमान के शब्दों में, "हमें भूतकाल के धर्म को अपरिवर्तित रूप में लाने की आवश्यकता नहीं है, और नहीं हमें किसी ऐसे नये धर्म की आवश्यकता है जिसके आदि-अन्त

का ही कुछ पता न हो। जिस बात की आवश्यकता है वह यह है कि हम कुछ नई चीज़ों को पवित्र मानें, आदर के नये विषय बनायें, और परमात्मा के साथ नये सम्बन्धों से साहचर्य स्थापित करें।"

इस प्रकार की अपनी आलोचना कोई कमज़ोरी की निशानी नहीं थी, लेकिन क्योंकि यह इस सदी के अंधकारपूर्ण तीसरे दशक में आयी, इसने एक ऐसे आक्रमण की शुरुआत कर दी जो तब से लगातार बढ़ता चला आ रहा है।

धार्मिक संगठनों की वृद्धि किस दिशा में हो रही इस बारे में सही आँकड़े पा सकना कठिन है। प्रतिशत के हिसाब से यदि वृद्धि नापी जाय तो उससे छोटे-छोटे, अधिकतर फंडामेंटलिस्ट चर्चों को बहुत महत्त्व मिल जाता है। सदस्यता के आँकड़ों की आपस में तुलना नहीं हो सकती क्योंकि कुछ समुदाय (जैसे रोमन कैथोलिक) सदस्यता जन्म (या बपतिस्मा) से गिनते हैं, जब कि कुछ दूसरे केवल प्रौढ़ों की ही सदस्यता मानते हैं। यहूदी आबादी का प्रार्थना-स्थान की सभा में सक्रिय भाग लेने वालों की संख्या के साथ सही-सही अनुपात निकालना भी असंभव है। प्रदर्शित सामग्री सं० १ में एक ग्राफ दिखाया गया है जो बताता है कि मुख्य-मुख्य धार्मिक संगठन एक दूसरे के अनुपात में तथा आबादी की वृद्धि के अनुपात में किस प्रकार बढ़े हैं। इस ग्राफ से यह बात प्रकट होती है कि परिमाणात्मक रूप से पारस्परिक अनुपात में कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ है, यद्यपि छोटे-छोटे संगठनों के अपने अंदर काफी परिवर्तन हो गये हैं। आमतौर पर धार्मिक संगठन पहले के ही अनुपात में हैं और आबादी की वृद्धि के साथ-साथ कुछ बढ़ गये हैं। प्राप्त आँकड़ों के और गहरे अध्ययन से पता चलेगा कि उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पूर्व में, अर्थात् आमतौर पर देहाती इलाकों में, चर्चों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। इसका कुछ संबंध तो उन बातों से है जिन पर इस अध्याय में हम विचार करने आ रहे हैं। इससे शायद यह सिद्ध नहीं होता कि इन इलाकों में पहले के बजाय अब धर्म में ज्यादा रुचि है, लेकिन यह अवश्य प्रकट होता है कि आवागमन के साधनों

में आधुनिक सुधारों के होने पर किसान इस योग्य हो गये हैं कि वे दूरस्थित गिर्जाघरों में जा सकें तथा उन्हें अपना सहयोग दे सकें।

पहले से बहुत सुधरी हुई सड़कों पर दौड़ती हुई कारों, ट्रकों और बसों ने ग्रामीण समाज की सीमाओं को बहुत बढ़ा दिया है। गाँव अब ग्रामीण अमरीका की राजधानी-सा बन गया है, स्कूल पहले से अधिक सुदृढ़ हो गये हैं, किसान का बाहरी संसार से सम्पर्क कई गुना अधिक हो गया है, विभिन्न संगठनों तथा समहों की सभाएँ पहले से कहीं ज्यादा होने लगी हैं, और रेडियो के साथ इन सब चीजों ने मिलकर ग्रामीण जीवन के अलगाव को लगभग खत्म ही कर दिया है। इन परिवर्तनों का असर चर्च ने पर भी पड़ा है। खुले देहात के ऐसे हज़ारों चर्च खत्म हो गये जिनकी सदस्य-संख्या ५० से भी कम थी और जो उस समय के लिए ही उपयुक्त थे जब समाज छोटे-छोटे समूहों में रहता था। गाँव के चर्च में किसानों की सदस्यता का अनुपात १९४० तक ४० प्रतिशत था, जिससे ज्यादा वह कभी नहीं हुआ।

'चर्चों' की बिलिमग्टन कौंसिल' की देखरेख में एक टिपिकल पूर्वी शहर विलिमग्टन डेलावेयर में किये गये अभी हाल के सर्वेक्षण में भी कोई ज्यादा चौंकानेवाले परिणाम सामने नहीं आये : ३७ प्रतिशत आबादी रोमन कैथोलिक है, २७ प्रतिशत प्रोटेस्टेंट, ३ प्रतिशत यहूदी, शेष ३३ प्रतिशत ऐसे हैं जिनका किसी धार्मिक संगठन से संबंध नहीं है। प्रोटेस्टेंटों में से (जिनमें तीन-चौथाई मेथोडिस्ट, प्रेस्बिटेरियन या एपिस्को पेलियन हैं) केवल तीन बटा आठ सदस्य किसी आम इतवार को चर्च जाते हैं। रविवासरीय स्कूल की सदस्यता चर्च की सदस्यता का पचपन प्रतिशत है, और रविवासरीय स्कूल में उपस्थिति चर्च की उपस्थिति से कुछ अधिक होती है। एक तिहाई सदस्यता उपनगरों के लोगों की है। और अध्ययनों से पता चलता है कि विकेंद्रीकरण की ओर कुछ-कुछ प्रवृत्ति है तथा उपनगरीय तथा आसपास के ग्रामीण चर्चों के बजाय शहरी चर्चों में सदस्यता धीमी गति से बढ़ रही है।

सामाजिक समस्याओं और सामाजिक दृष्टिकोणों पर धार्मिक समुदायों में जो अंतर पाया जाता है उसे जन-मत-संग्रह की विधि से नापने के एक प्रयत्न का विवरण परिशिष्ट में दिया गया है। इस प्रयत्न के परिणाम १९४०-४५ में उसी प्रकार से प्राप्त किये गये परिणामों से बहुत भिन्न हैं। इन परिणामों के आधार पर ही 'धर्म तथा वर्ग-रचना' के कुशल अध्येता लिस्टन पोप को भी इस परिणाम पर पहुँचना पड़ा कि चर्चों की सामाजिक स्थिति में पिछले दशक में उससे कहीं ज्यादा अंतर हुए जितना कि आमतौर पर माना जाता था।

लेकिन धर्म में हुए बहुत-से महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को नापा नहीं गया है, उनमें से अधिकतर को शायद नापा भी नहीं जा सकता। जो भी हो, अगले अध्याय, जिनमें कि धार्मिक पुनर्निर्माण के विभिन्न पहलुओं का वर्णन किया गया है, एक वैज्ञानिक रिपोर्ट के स्तर तक नहीं पहुँच सकेंगे। अपर्याप्त साक्षी के आधार पर भी सामान्य नियम निकालने पड़ेंगे और व्यक्तिगत प्रभाव के आधार पर ही कई जगह मूल्य निर्धारित करने पड़ेंगे।

संस्थागत पुनर्निर्माण

धार्मिक संस्थाओं का विभेदीकरण

हमारी सामाजिक क्रांति द्वारा धर्म के अन्दर किये जाने वाले क्रांतिकारी परिवर्तन ऐसे आदमी को तो स्पष्ट दिखते हैं जो धर्म को अंदर से देखता है, लेकिन जो धार्मिक संस्थाओं के केवल ऊपरी ढाँचे पर निगाह डालता है उसे वे दिखाई नहीं देते। आँकड़ों के द्वारा, कम-से-कम ऐसे आँकड़ों के द्वारा जो प्राप्त हैं, वे परिवर्तन नहीं दिखाये जा सकते। सबसे अधिक सदस्यता वाले चर्च सबसे अधिक स्थिर भी होते हैं और जहाँ तक सदस्यता का प्रश्न है, जनसंख्या में वृद्धि के अनुपात से थोड़ा आगे ही रहते हैं। धार्मिक संस्थाओं में जानेवाला जनसंख्या का प्रतिशत बीसवीं सदी में उतना नहीं बदला जितना उन्नीसवीं में। और उन आशंकाओं और शेखियों के बावजूद जो प्रेस में बार-बार निकलती रहती हैं, प्रोटेस्टेंट कैथोलिक और यहूदियों के प्रतिशत में भी कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। इनके किनारे पर कुछ आकस्मिक तथा नयी शाखाएँ भी हैं। इन पचास सालों में दो नये धर्मों के सदस्य लाखों की संख्या में बने हैं और वे दोनों असाधारण रूप से स्थिर हो गये हैं। वे हैं 'दि चर्च ऑफ़ जीसस क्राइस्ट आफ़ लेटर डे सेंट्स' (दि मार्मन्स) और 'दी चर्च ऑफ़ क्राइस्ट, साइंटिस्ट' (क्रिश्चियन साइंस)। मार्मन वे लोग हैं जिन्हें इज़राइलियों की तरह गैर मार्मन लोगों के बीच अपनी इच्छा के विरुद्ध रहने को बाध्य होना पड़ा है। उनका चर्च पूरे अर्थों में एक चर्च—अर्थात् एक विशिष्ट संस्कृति के आत्मिक जीवन और उत्तराधिकार का प्रकट रूप है। दूसरी ओर 'क्रिश्चियन साइंटिस्ट' वे लोग हैं जिन्हें जर्मन समाजशास्त्री एक सम्प्रदाय कहकर पुकारेंगे। उनका चर्च उनके लिए एक

विशेष काम करता है—और वह है उन्हें एक विशेष प्रकार का मानसिक स्वास्थ्य देना। वैसे वे अलग दिखनेवाले लोग नहीं हैं और व्यवहार में उनके धर्म का उनकी नागरिकता से कोई संबंध नहीं है। इन दोनों धार्मिक संस्थाओं को अपना दिव्य ज्ञान उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में प्राप्त हुआ था और तब से और अधिक प्रेरणा को वे रोकते ही आये हैं। हालाँकि छोटे-मोटे भेद उनमें होते रहे हैं फिर भी ये चर्च सुस्पष्ट रूढ़िवादी संगठन बन गये हैं, और शायद अमरीकी धार्मिक संस्थाओं में वे ही सबसे अधिक कठोर हैं। अब वे 'आंदोलन' नहीं रहे हैं।

अमरीकी वातावरण में 'चर्च' और 'सम्प्रदाय' (सेक्ट) में यह समाज-शास्त्रीय विभेद अधिक उपयोगी नहीं बैठता, क्योंकि राष्ट्रीय चर्च के दृष्टिकोण से सभी चर्च सम्प्रदाय ही हैं, यूरोपीय राष्ट्रीयताओं पर आधारित चर्च भी तेज़ी के साथ अपना मौलिक स्वरूप खोते जा रहे हैं। 'मार्मन', 'आर्थोडाक्स ज्यू' और कुछ छोटे-छोटे धार्मिक समुदाय धार्मिक रूप से संगठित हैं, लेकिन अमरीका की शेष सभी धार्मिक संस्थाएँ जिनमें रोमन कैथोलिक भी शामिल हैं, न तो राष्ट्रीय चर्च हैं, और न सम्प्रदाय ही। उन्हें आमतौर पर 'डिनोमिनेशन' या 'कम्यूनियन' कहा जाता है जिनमें से हरेक एक धार्मिक संघ में ऐसे लोगों को इकट्ठा करता है जो और तरह विभिन्न समुदायों के होते हैं। ये सब संगठन मिलकर अमरीकी लोगों का धार्मिक जीवन प्रकट करते हैं, लेकिन उनमें से कोई भी किसी विशिष्ट संस्कृति या श्रेणी का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। अमरीकी लोगों के लिए तो धार्मिक मत या 'डिनोमिनेशन' और धार्मिक आंदोलन के बीच का भेद अधिक महत्त्व का है। एक धार्मिक मत का रूप स्थिर संस्था का होता है। उसका अपना उत्तराधिकार होता है जिसे वह बहुत प्रिय मानता है, एक शासन होता है जो कि इसकी श्रद्धा को संगठित रूप से प्रकट करता है, और होता है ऐसे सदस्यों का समूह जिसके कर्त्तव्य और मूल्य आमतौर से पहचाने जा सकते हैं। अधिकांश आन्दोलनों की परिणति संस्थाओं में हो जाती है, वैसे ही जैसे कि अधिकांश विश्वास मत बन जाते हैं। एक आंदोलन को तब

खतरा हो जाता है जब वह किसी संगठन का निर्माण नहीं करता और एक संगठन को तब खतरा हो जाता है जब वह एक आंदोलन नहीं रहता।

इस अंतर को लागू करते हुए हम उन धार्मिक समूहों पर ध्यान दे सकते हैं जिन्होंने, उन दो के समान जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, अपनी मुख्य प्रेरणा पिछली शताब्दी में प्राप्त की थी और जो अब उतार पर हैं। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी में आत्मिकता एक जबर्दस्त आंदोलन थी, और वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ के दो दशकों में भी इसकी शिविर-सभाओं और बैठकों में कुछ जीवन था। लेकिन आज तो अध्यात्मवादी चर्च उस आंदोलन के अवशेषमात्र है।...

१९०६ की जनगणना में गिनाये गए बीस से अधिक धार्मिक संगठन पूरी तरह लुप्त हो गये हैं। थियोसोफी के बारे में संयुक्त राज्य के १९३६ के जनगणना अधिकारियों ने कहा था : 'थियोसोफिकल सोसाइटी'— "इन संगठनों के स्वरूप की वजह से निश्चय किया गया कि इन्हें अब धार्मिक सम्प्रदाय नहीं माना जायगा और न जनगणना में इनकी इस रूप में गिनती ही की जायगी" संभवतः यह निर्णय थियोसोफिक साहित्य में पाये जाने वाले कुछ ऐसे कथनों पर आधारित था : "थियोसोफी कोई नया धर्म, विज्ञान या दर्शन नहीं है, न इसका किसी विश्व-धर्म के आधारभूत सत्यों से कोई विरोध है। यह तो एक सार्वभौम सिद्धांत है" (थियोसोफिकल यूनिवर्सिटी प्रेस, कोविना, कैलिफोर्निया के प्रकाशक की घोषणा)। लेकिन थियोसोफिस्ट लोगों द्वारा सदा ही ऐसी बातें कही जाती रही हैं और इनसे इस आंदोलन के धार्मिक न रहने की प्रवृत्ति का कोई संकेत नहीं मिलता। इन लोगों के दो वर्ग हैं, एक ओर वे हैं जो इसके शैक्षिक रूप 'थियोसोफिकल यूनिवर्सिटी' पर बल देना चाहते हैं, दूसरी ओर वे हैं जिनकी रुचि धर्म और उसके विधि-विधानों में अधिक है।

ह्रास की ओर इस प्रवृत्ति के बाद भी बीस से अधिक नये संगठन सामने आये हैं। बीसवीं सदी के भी अपने आंदोलन रहे हैं। उनमें से कई अस्थायी थे पर अनेक ने स्थायी संगठनों को जन्म दिया है।

ऐसे आंदोलन साम्प्रदायिक हो भी सकते हैं और नहीं भी, लेकिन समकालीन धार्मिक आंदोलन में उनका बराबर महत्त्व है फिर चाहे वे क्षणस्थायी हों या फिर नये संगठनों को जन्म दें। वे धार्मिक उभार के रूप हैं और इसलिए अगले अध्यायों में हमें उन पर उचित ध्यान देना चाहिए।

यहाँ हमें संस्थागत विभेदीकरण के एक और रूप की ओर ध्यान देना है जिसके अंदर, इसके ज़ारी रहने की दशा में धार्मिक संगठनों की रचना में एक क्रांति लाने की क्षमता है। संयुक्त राज्य की जनगणना में गिनाये गए संगठन आमतौर से मत हैं—ऐसे संगठन जिनका मुख्य उद्देश्य (जनगणना अधिकारी और स्वयं उनकी राय में) पूजा या दैवी सेवा है। उनका केन्द्र उन इमारतों में होता है जिन्हें सदियों से मंदिर, चर्च, ईश्वर, का घर, मठ आदि कहा जाता रहा है। लेकिन हमारी शताब्दी में ऐसे अनेक धार्मिक समाज सामने आये हैं जिनके भवन आदि चर्च की इमारतों के बजाय बड़े व्यापार की इमारतों से ज्यादा मिलते हैं। उनमें से कइयों को तो कहा ही 'स्टोर फ्रंट चर्च' जाता है। वे कर्म और धार्मिक श्रम के लिए बनाये गये संगठन हैं। ईसाई चर्चों के पारंपरिक ढाँचे के भीतर भी 'न्यू इंगलैंड मीटिंग हाउस' और 'सोसायटी आफ़ फ्रेंड्स' आदि नामों से विधि-विधानों से मुक्त धार्मिक संगठनों की झलक मिलने लगी थी। पिछली दशाब्दी में अमरीकी धार्मिक संगठनों का काम इतना विशिष्ट, संगठित और व्यावहारिक हो गया है कि धर्म का जीवन ही पूजा से 'सेवा' और वेदी से दफ्तर की ओर जाता हुआ मालूम पड़ने लगा है। इस शताब्दी के प्रारंभ में भी एक दूरदर्शी धर्म विचारक द्वारा इस विभेदीकरण का आभास दिया गया था और उसने भविष्यवाणी से पूर्ण एक अनुच्छेद भी इस संबंध में लिखा था जिसे हम आने दे रहे हैं (देखें प्रदर्शित सामग्री संख्या २)।

आया ये सभी गतिविधियाँ धार्मिक हैं या नहीं, यह तो एक सैद्धांतिक विवाद है, क्योंकि निश्चित रूप से कोई भी नहीं बता सकता कि व्यापार कहाँ समाप्त होता है और धर्म कहाँ प्रारंभ, अथवा किस स्थान पर राजनीति 'राज्य की युद्धनीति' बन जाती है। अभी तो हमारे लिए चर्चों और मंदिरों

के अंदर या उनके सहारे बनी हुई बहुत प्रमुख धार्मिक संस्थाओं का वर्गीकरण कर देना ही काफी है ।

१. एक पूर्ण तथा आधुनिक शहर के संस्थागत चर्चों में शिक्षा देने के लिए स्टाफ मनोरंजन की सुविधाएँ, क्लब के कक्ष और रसोईघर, व्यावसायिक सामाजिक सेवा, मानसिक चिकित्सा संबंधी सलाह और रोज़गार दिलाने की सेवा आदि की सुविधा होती है ।

२. 'स्टोर फ्रंट चर्च' और 'गौस्पेल टैबरनेकल' (धर्मोपदेश शिविर) इसके बिल्कुल विपरीत हैं । ये प्रचार करने, सांत्वना देने या तत्काल दान आदि देने के लिए मिशन के स्थान हैं । कभी-कभी चर्चों द्वारा इन्हें आर्थिक सहायता दी जाती है, लेकिन अब तो बड़े शहरों में अपने आप ही संगठन, पूँजी या स्थायित्व के बिना इनकी गिनती बढ़ती जा रही है ।

३. ईसाई समुदायों में सामुदायिक केंद्रों की सहायता सामुदायिक या केंद्रीय चर्चों द्वारा की जाती है । ऐसे तीन हजार स्वायत्त केंद्र हैं जिनकी सदस्य संख्या १० लाख है । यहूदी समुदायों में ऐसे केंद्रों की सहायता यहूदी धर्म की विभिन्न शाखाओं द्वारा की जाती है ।

४. मिशन, सामाजिक कार्य, शिक्षा, धर्मोपदेश और विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास के केंद्रीय कार्यक्रम के लिए अब चर्च-बोर्ड और प्रशासनिक मंडलों को अधिक संगठित तथा सुदृढ़ कर दिया गया है ।

५. मित्रता, मनोरंजन, धार्मिक शिक्षा और मिशन की गतिविधियों के लिए बनाये गए युवक-संगठनों ने धार्मिक कार्य को चर्च की गतिविधियों से बहुत आगे पहुँचा दिया है । वाई० एम० सी० ए०, वाई० डब्ल्यू०, सी० ए०, वाई० एम० एच० ए०, वाई० डब्ल्यू० एच० ए०, 'क्रिश्चियन एंडीवर सोसायटी' और 'स्टुडेंट वालंटरी मूवमेंट' आदि संगठन मतों के बाहर रहकर ही बनाये गए थे ।

६. धार्मिक संगठनों के शिक्षा संबंधी कार्य में अब शिक्षा के सभी रूप आते हैं जिनमें प्राथमिक शिक्षा और रविवासरीय विद्यालय, कालिज और विश्वविद्यालय तक की शिक्षा, धर्मदर्शन संबंधी विचार-गोष्ठियाँ

और अनेक प्रकार की तकनीकी सेवा के लिए प्रशिक्षण विद्यालय भी शामिल हैं।

७. प्रारंभिक और उच्च दोनों प्रकार की धार्मिक शिक्षा के लिए और विद्यालयों में धार्मिक कार्यक्रम की योजना बनाने और उस पर विचार करने के लिए बहुत से संगठन बन गए हैं।

८. धार्मिक प्रेस तथा प्रचार अब व्यावसायिक आधार पर आ गए हैं और धर्मनिरपेक्ष पत्रकारिता के सभी पहलुओं से मुकाबला करते हैं। उनमें धार्मिक उच्चादर्शों और निर्देशों के अलावा आम खबरें और मनोरंजन की सामग्री भी रहती है। धार्मिक प्रकाशन-गृह अब अपने प्रकाशन कार्यक्रम का विस्तार बढ़ा रहे हैं और पारंपरिक धार्मिक साहित्य के साथ-साथ अनुसंधान योजनाओं के परिणाम भी प्रकाशित करने लगे हैं।

९. ज्यादा बड़े चर्चों द्वारा धार्मिक चर्चा-गोष्ठियों की स्थापना की गई है, और कुछ अंतर्मतीय संगठनों द्वारा ऐसी गोष्ठियों की आर्थिक सहायता की जाती है जो औरों पर शक्तिशाली दबाव डाल सकती हैं।

१०. धर्मनिरपेक्षवाद से धर्मों की रक्षा करने और अपने सामान्य हितों को बढ़ावा देने के लिए अंतर्मतीय और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भी स्थापना हुई है।

ऐसी संस्थाओं की केवल सूची बनाने से ही यह पता चल जाता है कि धार्मिक रुचियाँ कितनी पेचीदा हो गई हैं और यह विचार कितना पुराना मालूम पड़ता है कि धर्म का पालन एकांत में ही हो सकता है। अवश्य ही व्यक्तिगत पूजा अब भी की जाती है, पर सबसे अधिक व्यक्तिगत धार्मिक भावना को भी अब कुशल तथा संगठित धार्मिक कर्मचारियों के प्रयत्नों से प्रोत्साहन मिलने की संभावना रहती है। १९२० से १९५० तक की तीन दशाब्दियों में उससे पहले की तीन दशाब्दियों से दुगुनी कैथोलिक सोसाइटियों की स्थापना हुई। प्रोटेस्टेंट और यहूदी संगठनों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है।

धार्मिक संस्थाओं का सामाजिक स्थान

उस समय जब कि राज्य और धर्म के बीच के संबंधों के बारे में अमरीकी सिद्धांतों का निर्माण हो रहा था, धर्म को आमतौर से व्यक्तिगत चीज़ माना जाता था। १७७६ की अधिकारों की वर्जिनिया घोषणा में धर्म में, जो कि "ईश्वर के प्रति हमारा कर्त्तव्य है," और नैतिकता में, जो "एक दूसरे के प्रति ईसाई सहिष्णुता, प्रेम और परोपकार का भाव रखने का पारस्परिक कर्त्तव्य है," एक विशिष्ट भेद किया गया था। संभव है यहाँ पर 'ईसाई' विशेषण ग़लती से आ गया हो, या एक आम प्रयोग का लापरवाह उपयोग हो। जो भी हो, उस समय सिद्धांत में आधारभूत भेद इन दो बातों में था : ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य जिसका पालन प्रत्येक व्यक्ति को 'अपनी अंतरात्मा की पुकार' के अनुसार करना था, और सहिष्णुता के सामाजिक और पारस्परिक कर्त्तव्य (जो आवश्यक नहीं कि ईसाई ही हों)। १९३१ में भी मुख्य न्यायाधीश ह्यूज़ ने अंतरात्मा की ओर से विरोध करनेवाले लोगों के केस में इस अंतर की ओर ध्यान दिलाया था (संयुक्त राज्य बनाम मैकिंटोस, २८३ यू० एस० ६३३)। उसने लिखा था : धर्म का सार परमात्मा संबंधी वह विश्वास है जिसमें वे कर्त्तव्य आते हैं जो मानवीय संबंधों द्वारा उत्पन्न होने वाले सभी कर्त्तव्यों से ऊँचे हैं। जैसा कि प्रसंग से स्पष्ट है, जो वह कहना चाहता था वह था, "राज्य से ज्यादा ऊँची नैतिक शक्ति के प्रति कर्त्तव्य", लेकिन कैथोलिक सिद्धांत-शास्त्रियों की तरह उसने भी मान लिया था कि राजनैतिक कर्त्तव्यों से ऊपर उठा हुआ कोई भी कर्त्तव्य मानवीय संबंधों पर आधारित नहीं हो सकता। धार्मिक चेतना या उपरिगत कर्त्तव्य की यह व्यक्तिवादी व्याख्या अब धीरे-धीरे समाप्त हो गई है, और धर्म-निरपेक्ष तथा धार्मिक दोनों प्रकार के नेता धर्म के सामाजिक उत्तरदायित्व को ज्यादा अच्छी प्रकार समझने लगे हैं। चाहे कोई उग्रवादियों के इस विचार से सहमत हो कि यह सामाजिक उत्तरदायित्व धर्म का सारभूत है, या फिर चाहे कोई सामाजिक नैतिकता को बनाये रखने में ही धर्म

की शक्ति स्वीकार करे, यह बात आमतौर से मानी जाने लगी है कि हमारी संस्कृति की रचना में धर्म यदि एक बुनियादी नहीं तो महत्त्वपूर्ण तत्त्व अवश्य है। टामस जैफर्सन ने वह प्रसिद्ध अनुच्छेद जिसमें उसने 'अलगाव की दीवार' के बारे में कहा है, इस वाक्यांश से शुरू किया है, "आपके साथ यह विश्वास करते हुए कि धर्म पूरी तरह से मनुष्य और उसके ईश्वर के बीच रहनेवाला मामला है, और वह अपनी श्रद्धा या पूजा के लिए और किसी के प्रति उत्तर-दायी नहीं है।" समाप्ति उसने इस वाक्यांश से की, "यह विश्वास है कि मनुष्य को सामाजिक कर्त्तव्यों के विरोध में कोई प्राकृतिक अधिकार प्राप्त नहीं है।" उस समय प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम की रक्षा के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे थे वे और अधिक सार्थक हो सकते थे, यदि वे जैफर्सन की घोषणा के समान इस धारणा पर आधारित होते कि कोई भी प्राकृतिक अधिकार सामाजिक कर्त्तव्यों के विरोध में नहीं हो सकता। एक चर्च सरकारी नियंत्रण से मुक्त हो सकता है लेकिन यह सामाजिक उत्तरदायित्वों से कभी मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए "चर्च और राज्य के बीच की अलगाव की दीवार" को कितना ही मजबूत क्यों न बनाया जाय, ज़िम्मेदार नागरिकों और प्रजातंत्रीय सरकारों का यह स्पष्ट कर्त्तव्य है कि न तो वे धर्म के प्रति 'उदासीन' रहें, न किसी प्रकार के धर्म के प्रति कृपालु हों, और न सभी धर्मों के प्रति विद्रोही हों। इसके विपरीत उन्हें चाहिए कि वे उन सभी धर्मों और विश्वासों की, जिसका असर सामा-जिक जीवन पर पड़ता है, मानवीयता और भद्रता की युक्तियुक्त जाँच करें, चाहे कानूनी तौर पर वे धर्म और विश्वास 'व्यक्तिगत' ही क्यों न हों। 'रिलिज़न इन अमेरिकन लाइफ़' के नाम से चार्ल्स ई० विल्सन की अध्य-क्षता में एक राष्ट्रीय जनसाधारण की समिति बनायी गई है जिसका उद्देश्य अमरीकी जीवन की बुनियाद के रूप में धार्मिक संस्थाओं के महत्त्व पर बल देना और सभी अमरीकियों को अपनी व्यक्तिगत पसंद के चर्च में भाग लेने की प्रेरणा देना" है। ऐसी संस्था को चाहिए कि वह सावधानी पूर्वक यह भी देखे कि विभिन्न धार्मिक संगठन वास्तव में कहाँ तक 'अमरीकी

जीवन की बुनियाद' बनाने में सहायक हैं।

कर लगाने की दृष्टि से धार्मिक संस्थाओं को लाभ न लेने वाली माना जाता है और उन पर कर नहीं लगता, लेकिन अन्य दृष्टियों से उन्हें 'परोपकारी' संगठन माना जाता है। आमतौर पर, धार्मिक संस्थाओं पर कर-निषेध लागू करनेवाले संघीय संशोधन की व्याख्या चर्च और राज्य को अलग करने के अर्थ में की जा सकती है पर इसका मतलब यह नहीं है कि राज्य संगठित धर्म की गतिविधियों और मूल्यों पर कोई ध्यान ही नहीं देता। चर्चों और संयुक्त राज्य के बीच ऐतिहासिक संबंधों को सही-सही निरूपित करने की कठिनाइयों का विवेचन ई० बी० ग्रीन द्वारा अपनी पुस्तक 'रिलिजन एंड दि स्टेट इन अमेरिका' में किया गया था और तब से, ये संबंध किस प्रकार के होने चाहिए, इस पर का विवाद एक तीव्र सार्वजनिक मसला बन गया है। प्रोफेसर ग्रीन ने यह स्पष्ट तौर से दिखा दिया कि यह अलगाव कभी भी पूरा नहीं रहा है और इन दोनों में वास्तविक संबंध सही-सही कानूनी सिद्धांतों के बजाय सहानुभूतियों के इधर या उधर होने पर अधिक निर्भर थे। डा० एन्सन फैल्प्स स्टोक्स ने अपने ग्रंथ 'चर्च एंड स्टेट इन की यूनाइटेड स्टेट्स' में की तीन जिल्दों में इस प्रश्न की बहुत ही विस्तृत विवेचना की है। इस ग्रंथ से भी बहुत ब्यौरे के साथ ग्रीन के परिणामों की ही पुष्टि होती है।

सन् १९०० में इस प्रश्न में कोई खास रुचि नहीं थी। १९२८ में एल्फ्रेड ई० स्मिथ के राष्ट्रपति के चुनाव आंदोलन ने इसे आम जनता के लिए महत्त्व का बना दिया। उसके बहुत-प्रचारित व्यक्तिवादी सिद्धांत का मतलब उदारवादी कैथोलिक स्थिति से लिया जाता था। (प्रदर्शित सामग्री संख्या ३ देखें)। दखलंदाज़ी के विरुद्ध उसका बयान कैथोलिक लोगों के दबाव पर दिया गया था जो उसे उस समय सताये जाने वाले मैक्सिकन चर्चों की ओर से बीच में डालना चाहते थे।

पिछले दो दशकों में अदालतों द्वारा ऐसे अनेक निर्णय दिये गए हैं जिसमें इस 'अलगाव' के अर्थ की परिभाषा करने की कोशिश की

गई है। क्योंकि सभी संस्थाओं को, और खास तौर से लाभ न लेने वाली संस्थाओं को, कम या ज्यादा सरकारी सहायता लेने की आवश्यकता बढ़ती जा रही है, इसलिए अब चर्च यह समझने लगे हैं कि उनकी स्वतंत्रता खतरे में है। अधिकांश चर्च यह अनुभव करते हैं कि जनता से धन-संग्रह करने में वे राज्य का मुकाबला नहीं कर सकते। अब यदि चर्च को सदस्यों की आय का दशांश मिल जाय तो उसे बहुत प्रसन्नता होगी, जब कि राज्य तो इतनी कम राशि से काम चलाने की सोच भी नहीं सकता। यह स्थिति स्वयं ही ऐतिहासिक तथा नैतिक दृष्टि से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि, इस देश में भी, एक ऐसा समय था जब जनता से धन-संग्रह करने की चर्च की शक्ति पर राज्य को ईर्ष्या होती थी। कुछ तो आर्थिक आवश्यकता के कारण और कुछ नैतिक सिद्धांतों के कारण, चर्चों ने (खास तौर पर रोमन कैथोलिक चर्च ने) चर्च और राज्य में अलगाव के परम्परागत विचार में संशोधन की माँग की है।

इस बदलती हुई नीति की सबसे स्पष्ट घोषणा २० नवंबर, १९४८ को अमरीकी रोमन कैथोलिक बिशप के घोषणा-पत्र में हुई जिसमें उन्होंने एक काम चलाने वाले सूत्र 'चर्च और राज्य में सहयोग' का सुझाव इस प्रकार दिया है :

इतिहास और कानून की जानकारी रखने वाले किसी भी व्यक्ति को पहले (संविधान के) संशोधन का मतलब उसके शब्दों से ही स्पष्ट हो जायगा : "कांग्रेस धार्मिक संस्थानों के बारे में या उनका स्वतंत्र रूप से धर्म पालन मना करने के बारे में कोई कानून नहीं बनायेगी।"

इस पहले संशोधन के अधीन संघीय सरकार न तो किसी एक धर्म के साथ पक्षपात कर सकती थी और न राज्य सरकारों को वैसा करने के लिए बाध्य या मना कर सकती थी। अगर इस व्यावहारिक नीति का वर्णन 'चर्च और राज्य में अलगाव' के रूपक से किया जाय, तो इसे खास अमरीकी अर्थ में ही समझना चाहिए। अमरीकी इतिहास और कानून को तोड़ मरोड़कर ही यह कहा जा सकता है कि इस नीति का

मतलब धर्म के प्रति उदासीनता है, और इसके अनुसार चर्च तथा राज्य में कभी सहयोग हो ही नहीं सकता।

पिछले दो सालों में धार्मिक और नैतिक शिक्षण को बढ़ावा देने के सरकारी प्रयत्नों के विरोध में धर्मनिरपेक्षवाद को आशातीत सफलता मिली है; और यह सफलता ऐसे स्थानों पर भी मिली है जहाँ कि और धर्मों के विरोध में किसी विशेष धर्म के साथ पक्षपात नहीं हो रहा था। हाल ही के दो केसों में तो संयुक्तराज्य के सर्वोच्च न्यायालय ने पहले संशोधन के 'धार्मिक संस्थान' की एक पूरी तरह से नई और व्यापक व्याख्या स्वीकार कर ली है।

इस व्याख्या के अनुसार किसी भी संगठित धर्म और सरकार में सहयोग नहीं हो सकेगा चाहे किसी विशेष धर्म के साथ पक्षपात की बात भी न उठती हो।

हम पूरे विश्वास के साथ यह अनुभव करते हैं कि अच्छी नागरिकता और धर्म दोनों के लिए धार्मिक संस्थाओं और सरकार में सहयोग की पुरानी अमरीकी प्रणाली को फिर से घोषित करना चाहिए। यह सहयोग ऐसा होगा जिसमें किसी भी समुदाय को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होंगे और न किसी नागरिक की धार्मिक स्वतंत्रता पर कोई बन्धन ही होगा।

हम पूरी उदारता के साथ उन सभी लोगों में सहयोग करने के लिए तैयार हैं जो ईश्वर में विश्वास करते हैं और ईश्वर के अधीन स्वतंत्रता के उपासक हैं ताकि हम मिलकर कानून के द्वारा 'धर्मनिरपेक्षवाद की स्थापना' का और सार्वजनिक जीवन से ईश्वर को निकाल बाहर करने का जो खतरा सामने आ रहा है उसे टालें। धर्मनिरपेक्षवाद हमारे राष्ट्रीय जीवन की बुनियाद को ही खतरा पहुँचा रहा है और सर्वशक्तिसम्पन्न राज्य के अवतरण के लिए रास्ता बना रहा है।

सहयोग का यह सिद्धांत किस प्रकार लागू किया जायगा इस पर बहुत कुछ निर्भर करता है। शायद ये बिशप यह कहना चाहते हैं कि

कैथोलिक सिद्धांत को प्रजातंत्रीय शासन के अनुसार ढाल लिया जाय। तो भी, 'नेशनल कैथोलिक वेलफेयर कांफ्रेंस' की प्रबंध समिति द्वारा १८ नवंबर, १९५० को प्रकाशित बच्चों की शिक्षा के बारे में एक घोषणा में बिशपों ने सहयोग के इस सिद्धांत को भ्रामक रूप में लागू किया है। उन्होंने 'दो संसारों' में दुहरी नागरिकता के सिद्धांत के प्रति संमान प्रकट किया है, लेकिन साथ ही यह सिद्धांत भी सामने रखा है कि केवल धर्म ही 'एकता लाने वाली शक्ति' का काम दे सकता है। उनके अनुसार धर्म ही बच्चे को "उसकी सत्ता का पूर्ण और युक्तिसंगत अर्थ" बता सकता है। बच्चा या तो "ईश्वर-केन्द्रित होगा या आत्म केन्द्रित" इसलिए सारी शिक्षा, विशेषकर सेक्स के बारे में शिक्षा, "धार्मिक और नैतिक आधार पर" होनी चाहिए ताकि बालक अपने जीवन के नियामक उद्देश्य—'ईश्वर की सेवा' को स्पष्ट रूप से समझ सके। सहयोग के सिद्धांत के इस विकास का मतलब यही मालूम पड़ता है कि धर्मनिरपेक्ष नैतिकता को धार्मिक नैतिकता के अधीन कर दिया जाय और विद्यालयों में भी आत्मिक मामलों में चर्च और माता-पिता की ही बात मानी जाय।

इस बारे में कैथोलिक स्थिति की सबसे स्पष्ट और प्रजातंत्रीय व्याख्या फादर जोन कोर्टनेनी मरे की है जो अपने एक प्रबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचा था :

इतिहास और अनुभव ने चर्च को राज्य की स्वायत्तता का सम्मान करने को बाध्य कर दिया है, परिणामतः वह सांसारिक मामलों में अपनी आत्मिक शक्ति का प्रयोग अधिक दृढ़ता से कर सकता है। शक्ति का यह प्रयोग ज्यों-ज्यों अधिक आत्मिक होता जाता है, त्यों-त्यों वह अधिक व्यापक और गहरा होता है। उसका प्रवेश मानवीय जीवन की सभी संस्थाओं में हो जाता है और एक 'ईसाई अन्तरात्मा' के नियमों का पालन करने में उससे बढ़ावा मिलता है।

धार्मिक नेता के इस कथन के साथ ही एक प्रसिद्ध कानूनी विद्वान

के विचारों पर ध्यान देना भी अच्छा रहेगा :

चर्च और राज्य के पारस्परिक उत्तरदायित्व अब भी वही हैं जो सदा रहे हैं––दोनों को ही मानवीय समाज की उन्नति के लिए सहयोग करना है। लेकिन चर्च को समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन सेण्ट-पाल की भावना से करना चाहिए। चर्च जब दिव्य संगठन के रूप में अपने मिशन में पूरे विश्वास के साथ इस देश तथा संसार के लोगों के बीच परोपकार के धर्म-सन्देश का प्रसार करेगा तभी वह समाज तथा राज्य के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभा सकेगा।

राज्य और चर्च में कानूनी अलगाव को सुलझाने के इन प्रयत्नों से धर्म और समाज में सहयोग की पुरानी समस्याएँ नये रूप में उठ खड़ी होती हैं। हाल के विकास से इन मसलों को व्यावहारिक रूप से तुरंत हल करने की आवश्यकता सामने आई है। इन सैद्धांतिक विवेचनों के पीछे कई महत्वपूर्ण कानूनी निर्णय और दलों के संघर्ष हैं जिन सभी ने अब तक बचे हुए उग्रवादी नास्तिकों और स्वतंत्र विचारकों की स्थिति को कमज़ोर किया है। धार्मिक समझी जाने वाली अमरीकी जनता के बहुमत ने राज्य की पूरी तरह की 'उदासीनता' पर इस दखलंदाजी को बिना किसी विरोध या चिंता-प्रकाशन के स्वीकार कर लिया है। धार्मिक बातों को विद्यालयों में लाने के बारे में कुछ छोटी-मोटी शिकायतें अवश्य की गईं : यहूदियों ने ईसाई प्रार्थनाएँ सिखाने पर आपत्ति की, कैथोलिकों ने किंग जेम्स के बाइबिल संस्करण के प्रयोग पर आपत्ति की, नास्तिकों ने विधान सभाओं में प्रार्थना पर और राज्य के विश्व-विद्यालयों में किसी विशेष दल के धार्मिक कर्मचारियों और अध्यापकों के रहने पर आपत्ति की। लेकिन ऐसी समस्याएँ बहुत पहले से चली आ रही थीं। नयी समस्याएँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से महायुद्धों द्वारा उत्पन्न हुई थीं। युद्ध के समय राष्ट्रपति विलसन और राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने अपने सार्वजनिक भाषणों और लेखों में धार्मिक अपील और भावनाओं को शामिल करने में संकोच नहीं किया। "ईश्वर की छत्रछाया में यह राष्ट्र"

जैसे प्रयोग संघर्ष को धार्मिक गंभीरता प्रदान करते थे और साथ ही सुझाते थे कि अधिकृत रूप से "हम लोग ईश्वर में विश्वास करते हैं"। यद्यपि ऐसी भावनाओं का आम जनता ने स्वागत किया पर उग्र धर्मनिरपेक्ष-वादी इनसे भड़क उठे; यहाँ तक कि वे फौज में पादरियों के रहने का भी विरोध करने लगे।

१९३९ में जब माइरौन टेलर की पहले रूज़वेल्ट और बाद में ट्रुमैन के निजी प्रतिनिधि के रूप में वैटिकन में नियुक्ति हुई तो आम जनता ने इसे सामरिक नीति और गुप्त समाचार पाने का एक साधन समझा। लेकिन इस संदेह पर कि यह नियमित कूटनीतिक संबंध स्थापित करने की शुरुआत होगी, अगुआ प्रोटेस्टेंट संगठनों ने इसके खिलाफ ज़बर्दस्त विरोध प्रकट किया। १९५१ में जब प्रेज़िडेंट ट्रुमैन ने जनरल मार्क क्लार्क की इसी रूप में नियुक्ति करनी चाही तो इन संदेहों की पुष्टि हो गई और तब प्रोटेस्टेंट तथा अन्य मतों के द्वारा एक शक्तिशाली और संगठित विरोध खड़ा कर दिया गया।

इसी प्रकार जब जनरिलिस्सिमो फ्रांको के स्पेन के साथ सामान्य कूटनीतिक संबंध स्थापित करने के लिए कैथोलिकों ने दबाव डाला तो इस पर प्रोटेस्टेंट तथा धर्मनिरपेक्षवादी उदारपंथियों ने बहुत बुरा माना। लेकिन सबसे गंभीर मसले नयी शिक्षा-नीतियों पर उठ खड़े हुए। १९३० और १९४० के दशकों में हाई स्कूल के विद्यार्थियों के अंदर बढ़ती हुई अपराध की प्रवृत्ति के प्रति गंभीर चिंता प्रकट की जा रही थी। 'दि नेशनल कौंसिल ऑफ प्रोटेस्टेंट्स, कैथोलिक्स एंड ज्यूज़' तथा अन्य अंतर्मतीय संगठनों ने सुझाव दिया कि चिंताजनक रूप से बढ़ती हुई अनैतिकता का एक कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव था, और इस आधार पर जनता में नैतिकता लाने के लिए धार्मिक शिक्षा के लिए बड़ी व्यापक माँग की गई। धार्मिक निरक्षरता को जनता के लिए खतरा माना जाने लगा, और उन सभी उपायों पर विचार किया गया जिनसे मतवाद को प्रोत्साहन दिये बिना, जनता का नैतिक व्यवहार

धार्मिक विधि-निषेध पर आधारित किया जा सके। इस प्रकार आम तौर पर धर्म की सार्वजनिक आवश्यकता में विश्वास बढ़ा जिसका अलग-अलग मतों ने फायदा भी उठाया। इस परिस्थिति के साथ यह बात भी जुड़ गई कि संघीय सरकार ने युद्ध से लौटे व्यक्तियों को छात्रवृत्ति देने के द्वारा कई लड़खड़ाते चर्च कालेजों को युद्धोत्तर कालीन वर्षों के संकट से पार निकलने में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता दी; और कई राज्यों ने ऐसे नियम बनाये जिनके द्वारा सार्वजनिक धन का उपयोग धार्मिक स्कूलों को सहायता देने में किया जा सकता था।

जबकि इन मसलों पर बहस अब भी (सन् १९५२ में) चल रही है, किसी सामान्य नतीजे पर पहुँचना कठिन है, लेकिन यह बात आम तौर पर मानी जाती है कि १९०० के बाद से धार्मिक स्वतंत्रता की समस्या का केन्द्र बदल गया है। नास्तिक, स्वतंत्र विचारक और उग्र धर्म-निरपेक्षवादी अब धर्म से मुक्ति दिलाने के लिए इतना आंदोलन नहीं करते; कम-से-कम संगठित धर्म के विरुद्ध विद्रोही आवाज़ अब उतनी नहीं सुनाई पड़ती जितनी एक या आधी शताब्दी पहले पड़ती थी। लेकिन यदि धार्मिक संगठन धर्म-निरपेक्षवाद को अनैतिक बताते रहे, या यह कहें कि यह भी एक तरह का धर्म ही है, तो उन्हें अवश्य ही उन अधार्मिक नागरिकों का कोप-भाजन बनना पड़ेगा जिन्होंने यह सोच रखा था कि संगठित धर्म के अंदर असंगठित अधर्म को सहने की समझ कभी-न-कभी आ जायगी। अन्यथा अब धर्म के लिए स्वतंत्रता का सिद्धांत आम तौर पर स्वीकार कर लिया जाता है। हाँ, कुछ अमरीकी कैथोलिक सिद्धांतियों का अल्पमत अब भी यह विश्वास करता है कि सिद्धांत रूप से 'झूठे' धर्मों का दबाना अच्छा है, हालाँकि वे व्यवहार में इसकी वकालत नहीं करते। लेकिन धर्म में स्वतंत्रता के लिए वास्तव में एक आतुरता है, अर्थात् लोग चाहते हैं कि अमरीका के दो सौ स्वतंत्र धार्मिक संगठनों में, जिनकी परम्पराएँ उन्हें यदि शत्रु नहीं तो अलग रहने वाला तो बनती ही हैं, पारस्परिक संमान और सहयोग बढ़े। दूसरे शब्दों में,

चर्च और राज्य की समस्या 'धर्म से अलग रहने' की जनता की नकारात्मक नीति से नहीं सुलझती, बल्कि वह एक ऐसा बौद्धिक तथा नैतिक वातावरण बनाने से सुलझती है जिसमें धर्म का स्वतंत्र व्यवहार सार्वजनिक जीवन के रचनात्मक मूल्य के लिए होता है। स्वतंत्रता की भावना का धार्मिक भक्ति की भावना के साथ समझौता सामाजिक नैतिकता की एक गंभीर समस्या बन गया है। राज्य और चर्च में से कोई भी अब दूसरे के नैतिक ढाँचे के प्रति उदासीन नहीं रह सकता।

धार्मिक शिक्षा की संस्थाएँ

धार्मिक शिक्षा को बढ़ाने के विभिन्न कार्यक्रमों ने शिक्षा की समस्या के अलावा नैतिक तथा कानूनी रूप से चर्च और राज्य के संबंधों के बुनियादी सवाल उठा दिए हैं। ऐसा ही एक सवाल तब उठा जब संघीय फंड का उपयोग पेरोकियल (किसी पैरिश के) स्कूलों को बस, मध्याह्न-भोजन तथा अन्य ऐसी सुविधाएँ देने में किया गया जो पहले संघीय कानून द्वारा केवल सार्वजनिक विद्यालयों को ही मिलती थीं। इसमें तर्क यह दिया गया था कि इन कार्यों का संबंध धार्मिक शिक्षा से बढ़कर सार्वजनिक स्वास्थ्य और बाल-कल्याण से था। ८०वीं कांग्रेस में सीनेट में प्रस्तुत टाफ्ट बिल और हाउस में प्रस्तुत मैकगाउन बिल ने संवैधानिक सवाल निश्चित रूप से उठा दिया। शिक्षा के क्षेत्र के बहुत-से नेता सार्वजनिक शिक्षा पर संघीय धन व्यय करने के लिए ज़ोर दे रहे थे, लेकिन कैथोलिकों ने इस दिशा में कोई भी प्रयत्न तब तक नहीं होने दिया, जब तक पेरोकियल स्कूलों की सहायता बंद रही। इससे ज़ाहिरा तौर पर एक गतिरोध उत्पन्न हो गया है। जिस चीज़ ने प्रोटेस्टेंट, यहूदी और धर्म-निरपेक्षवादियों को और भड़का दिया वह भी कैथोलिक नेताओं के इस प्रकार के स्पष्ट कथन कि उनका और अधिक माँगना भी ठीक था : टैक्स से हमें इतना धन मिलना चाहिए कि कैथोलिक स्कूल अमरीकी शिक्षा के अभिन्न अंग बन जायँ।

इस शताब्दी के प्रारंभ में अमरीकी कैथोलिक नेताओं में पैरोकियल स्कूलों के बारे में मतभेद था। सन् १८७० में न्यूयार्क के सेंट स्टीफेंस चर्च के फादर मैकग्लिन ने पैरोकियल स्कूल-प्रणाली का कड़ा विरोध किया था, और परिणामतः बिशपों में इस प्रश्न पर बहुत वाद-विवाद हुआ। इस विरोध का मतलब पोप लियो तेरहवें ने यह लगाया कि रोमन कैथोलिक चर्च के अंदर अमरीकीपन बढ़ता जा रहा है जिसके लिए कि उसने अंत में आर्कबिशप जोन आयरलैंड और कार्डिनल गिब्बंस की भर्त्सना भी की। १८८२ में पोप के प्रतिनिधि मौंसियोर सातोली और अमरीकी बिशपों के बीच समझौते की योजना तैयार हुई, पर छह महीने बाद ही पोप ने सार्वजनिक स्कूल-प्रणाली की ओर झुकने की निंदा कर दी। परिणामतः बीसवीं सदी में पैरोकियल स्कूल खूब बढ़े, यहाँ तक कि अब कैथोलिक बच्चों में से आधे पैरोकियल स्कूलों में ही जाते हैं। इस बात से १८९२ के इस समझौते का खंडन हुआ कि, "प्रारंभिक शिक्षा अथवा कला और विज्ञान की उच्च शाखाओं के अध्ययन के लिए कैथोलिक बच्चों के राज्य द्वारा नियंत्रित सार्वजनिक स्कूलों में जाने पर कोई आपत्ति नहीं है।" इसका स्थान अब इस नीति ने ले लिया कि न केवल धार्मिक शिक्षा होनी चाहिए, अपितु पढ़ना, लिखना और गणित भी धार्मिक अधिकारियों की देख-रेख में होना चाहिए।

इसी बीच यहूदियों के बीच हिब्रू स्कूलों की माँग बढ़ने लगी। शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में यहूदी धार्मिक नेताओं ने यहूदी धर्म के सार्वभौम तत्त्वों पर बल दिया और अपनी धार्मिक शिक्षा को अमरीकी धर्म-निरपेक्ष शिक्षा के साथ मिला देने में वे उदार पंथी ईसाइयों से भी आगे बढ़ गये। परिणामस्वरूप उनके धर्म के बहुत से विधि-विधानों की धार्मिक कट्टरता समाप्त हो गई और इन बातों का महत्त्व केवल ऐतिहासिक ही रह गया। लेकिन जब यह देखा गया कि धार्मिक शिक्षा को धर्म-निरपेक्ष शिक्षा के साथ मिलाने की प्रक्रिया सफल नहीं हो रही, और जब धर्म-निरपेक्ष यहूदी राष्ट्रीयता का जन्म हुआ तो पिछली दो दशाब्दियों में, हिब्रू की पढ़ाई

और यहूदी धार्मिक विधि-विधानों की जानकारी के लिए माँग बढी। इस प्रकार की चीजों को प्रोत्साहन देना शिक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ने लगा चाहे वह धार्मिक दृष्टि से आवश्यक हो या न हो।

इन स्कूलों ने चर्च और राज्य के विवाद को नहीं उठाया क्योंकि वे 'अलगाव की दीवार' को स्वीकार करने को तैयार थे। पर उन्होंने अमरीकी संस्कृति के साथ अपनी प्रासंगिकता का प्रश्न अवश्य उठाया। जौज़ेफ एच० लुकस्टीन ने यहूदियों के पक्ष का औचित्य ऐसे शब्दों में रखा है जो सभी धार्मिक संगठनों पर लागू हो सकते हैं। (प्रदर्शित सामग्री संख्या ४ देखिए)। यहूदियों की शिक्षा के लिए अमरीकी संघ की ओर से बोलते हुए एक दार्शनिक, होरेस एम० कैलन ने भी इस दृष्टिकोण पर एक सामयिक चेतावनी दी है : "यह काम वहीं तक पूरा किया जा सकता है जहाँ तक कि अमरीकी यहूदी बच्चों के माता-पिता और स्वयं बच्चों को यह बात स्पष्ट हो जाय कि उदार शिक्षा के द्वारा आगे बढ़ाये जाने वाले अन्य मूल्यों के समान उनके उत्तराधिकार के यहूदी मूल्य भी स्वतंत्रता में पनपने की उनकी अपनी शक्तियों को मुक्त करने के लिए आवश्यक गति-तत्त्व हैं।

जब धार्मिक संस्थाओं द्वारा दी जानी वाली धार्मिक शिक्षा के लिए सार्वजनिक विद्यालयों में 'रिक्त समय' (आम तौर से सप्ताह में एक घंटा) दिया जाने लगा तो ये ही मसले व्यावहारिक तथा कानूनी रूप से फिर उठाये गए। सर्वोच्च न्यायालय ने (१९४८ में मैक् कॉलम के केस में) यह निर्णय दिया कि सार्वजनिक स्कूल की इमारतों का उपयोग इस उद्देश्य के लिए नहीं किया जा सकता। लेकिन आम तौर पर यह कार्य-क्रम इस निर्णय के द्वारा रुका नहीं है, और ६-३ के निर्णय से सर्वोच्च न्यायालय ने न्यूयार्क राज्य की प्रणाली को उचित ठहराया है। इस कार्य-क्रम के धार्मिक मूल्य तथा इससे धार्मिक स्वतंत्रता के नियमों का उल्लंघन होता है अथवा नहीं, इस बारे में बहुत तीव्र मतभेद है। ऐसे माता-पिता जिनका किसी भी धर्म से संबंध या उसमें रुचि नहीं है यह शिकायत

करते हैं कि उनके बच्चों की शिक्षा का एक घंटा बेकार जाता है। अधिकांश यहूदी लोग धर्म के आधार पर विद्यार्थियों के बाँटे जाने का विरोध करते हैं। क्योंकि एक तो इससे साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है और दूसरे धार्मिक भेद का सार्वजनिक शिक्षा से कोई संबंध नहीं है। कुछ प्रोटेस्टेंट लोगों को इस पर इसलिए आपत्ति है कि कैथोलिक इस कार्यक्रम का सबसे अच्छा उपयोग कर रहे हैं और इसलिए भी कि इस थोड़े से समय में धार्मिक शिक्षा में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं दिया जा सकता। सारा कार्यक्रम अभी पूरी तरह प्रायोगिक अवस्था में है और एक समुदाय से दूसरे समुदाय में इसमें अंतर हो जाता है। लेकिन इसने एक बुनियादी सवाल को व्यावहारिक रूप में उठा दिया है कि क्या बिना धार्मिक मतभेदों और संघर्षों को बढ़ाये जनता की भलाई के लिए धर्म को बढ़ावा दिया जा सकता है? धार्मिक निरक्षरता और निरक्षर धर्म इन दो बुराइयों की वृद्धि से समस्या और पेचीदी बन गई है।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अमरीकी प्रोटेस्टेंट सदा यह मानकर चलते थे कि चर्चों को इसमें नेतृत्व करना चाहिए, और इसलिए बीसवीं सदी में नगरपालिका महाविद्यालयों और राज्य विश्वविद्यालयों की वृद्धि के आगे वे बड़ी अनिच्छा से ही झुके। धार्मिक वातावरण में पूर्ण संतुलित शिक्षा देने और सामान्य शिक्षा के साथ धार्मिक शिक्षा देने के उद्देश्य को प्राप्त करना अब ज्यादा और ज्यादा कठिन होता जा रहा है। बहुत-से कालेज जो धार्मिक संस्थाओं द्वारा स्थापित किये गए थे अब खुले तौर पर धर्म-निरपेक्ष या 'उदार कलाओं' के कालेज बन गए हैं और आर्थिक दृष्टि से भी स्थापना करने वाले चर्चों के अधीन नहीं हैं। लेकिन ऐसे कालेजों के भी जिन्हें चर्च कालेज कहा जाता है, धार्मिक 'वातावरण' में बहुत गिरावट आ गई है। गिर्जाघर में अनिवार्य उपस्थिति पर आमतौर से बुरा माना जाता है। बाइबिल कोर्स तथा अन्य धार्मिक कोर्स अब 'ऐच्छिक' विषय बना दिए हैं और विद्यार्थी प्रायः उन्हें नहीं लेते। साथ ही उन बातों में, जिनका अनुभव करना सरल है, वर्णन कठिन,

चर्च द्वारा चलाये जाने वाले स्कूलों का आम नैतिक तथा धार्मिक वातावरण उसी तरह की धर्म-निरपेक्ष संस्थाओं के वातावरण से ज्यादा भिन्न नहीं है; और कभी-कभी धार्मिक माता-पिताओं के द्वारा इस बात की कड़ी आलोचना की जाती है, और चर्च के क्षेत्रों में इस पर बहुत बुरा माना जाता है। इस प्रकार चर्चों के सामने एक तो नकारात्मक समस्या है : आया प्रारंभिक उद्देश्यों को बनाये रखने की कोशिश करना उचित है या नहीं, और दूसरी सकारात्मक समस्या है कोई ऐसा नया तरीका खोज निकालने की जिससे ज्यादा प्रभावशाली धार्मिक शिक्षा दी जा सके।

जब कई प्रभावशाली प्रोटेस्टेंट शिक्षाशास्त्री उच्च शिक्षा की स्थिति से निराश हो गए तो उन्होंने भी, कैथोलिक और यहूदियों के उदाहरण पर, प्रोटेस्टेंट प्राथमिक विद्यालय स्थापित करने की वकालत की। १९४९ में 'दि इंटरनेशनल कौंसिल ऑफ़ रिलिजस एजुकेशन' ने बताया कि १९३७ से रोमन कैथोलिक से भी बढ़कर लूथरन, रिफार्म्ड, सेविन्थ डे एडवेंटिस्ट, और मैननाइट चर्चों के धार्मिक स्कूल अनुपात में कहीं ज्यादा खुले हैं। लेकिन इंटरनेशनल कौंसिल ने 'अब लोगों के विद्यालय' के रूप में सार्वजनिक विद्यालयों में अपना विश्वास फिर प्रकट किया है और धार्मिक और अधार्मिक दोनों प्रकार की ऊँची उदासीनता से बचने के लिए सार्वजनिक विद्यालयों के साथ सहयोग के एक कार्यक्रम की सिफारिश की है। दूसरी ओर धर्म-निरपेक्ष शिक्षा-शास्त्रियों ने चर्चों को दोष दिया है और उन पर यह आरोप लगाया है क्योंकि वे अपने रविवासरीय विद्यालयों में छोटे बच्चों को आकर्षित करने में और धार्मिक संस्थाओं को समसामयिक अमरीकी जीवन के साथ मिला देने में सफल नहीं हो सके, इसीलिए वे सार्वजनिक विद्यालयों का समय माँग रहे हैं।

धार्मिक शिक्षा के लिए रिक्त समय के प्रयोग का शैक्षिक नेताओं द्वारा गंभीर समर्थन किये जाने का एक कारण यह भी है कि उन्होंने अब समझ लिया है कि भारी आधुनिकीकरण के बावजूद रविवासरीय विद्यालय धार्मिक शिक्षा के लिए जनता की आवश्यकता को पूरा नहीं कर

सकते । इस शताब्दी के प्रारंभ में ये संस्थाएँ 'बाइबिल स्कूलों' से कुछ ज्यादा नहीं थीं, और ऐसा ही उन्हें प्रायः पुकारा भी जाता था। पाठ्यक्रम व्यवहार में बाइबिल की कहानियों और टीकाओं तक ही सीमित था। रविवासरीय स्कूलों के भक्ति-गीत इतने नीचे थे जितने कि संगीत और धर्म में कहीं हो सकते हैं। इस शताब्दी के पहले चतुर्थांश में, कुछ लगन वाले अच्छे शिक्षकों के अथक परिश्रम द्वारा रविवासरीय विद्यालय को धार्मिक शिक्षा देने का एक सर्वांगीण साधन बना दिया गया। अच्छे टेक्स्ट और पाठ रखे गए, पाठ्यक्रम का विस्तार किया गया, उसमें सभी अवस्थाओं के नैतिक तथा धार्मिक मसलों पर तथा चर्च के इतिहास, चर्च के अनुशासन और सामाजिक समस्याओं पर विचार-विनिमय शामिल किया गया। संगीत में भी कुछ सुधार हुआ, यद्यपि सब मिलाकर रविवासरीय विद्यालयों में सौन्दर्य-पक्ष की उपेक्षा ही की जाती रही। ये आधुनिक बनाये हुए 'चर्च-स्कूल' धार्मिक विषयों और धार्मिक विकास के मनोविज्ञान पर धर्म-निरपेक्ष शिक्षा के तरीकों और मानदंडों को लागू करने का प्रयत्न करते थे। अध्यापकों को कुछ व्यावसायिक प्रशिक्षण देने के लिए एक बहुत संगठित तथा सुनियोजित व्यवस्था भी थी। कुछ चर्चों में, विशेष कर ऐपिस्कोपल में, अधिक बल चर्च की सदस्यता के लिए प्रशिक्षण पर था, लेकिन ज्यादातर चर्चों का उद्देश्य किशोरावस्था में बालकों की स्वाभाविक वृद्धि में सहायक होना था। इस प्रकार वे उन्नीसवीं सदी के धर्म-परिवर्तन पर बल और संवेगी अपील के स्थान पर एक अधिक प्रभावशाली और बुद्धिमत्तापूर्ण चीज़ बच्चों को देते थे। धार्मिक शिक्षा का यह सारा कार्यक्रम अब भी चल रहा है लेकिन शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में इसमें कुछ शिथिलता आ गई है। यह शिथिलता कितनी है यह एक विवादास्पद प्रश्न है और इसके कारणों का निश्चय करना कठिन है; १९४७ से इनमें, विशेषकर गैर-प्रोटेस्टेंट विद्यालयों में, प्रवृत्ति ऊपर की ओर मालूम पड़ती है। यह संभव है कि धार्मिक शिक्षा के इस कार्यक्रम में लोगों ने पहले बहुत ज्यादा उत्साह दिखाया जो बाद में स्वभावतः

कम हो गया। जो परिणाम निकले, उनसे इतनी विशाल संस्थाओं और अर्ध व्यावसायिक प्रयत्नों को उचित नहीं ठहराया जा सकता। १९३० के दशक में आर्थिक गिरावट ने छटनी आवश्यक कर दी और बाद की मुद्रास्फीति ने इसके धर्मस्व में ग़रीबी ला दी। इस शिक्षा से जिस 'जनसाधारण के नेतृत्व' के सामने आने की आशा थी वह सभी दिखाई नहीं देता। साथ ही चर्च में उपस्थिति की नियमितता में गिरावट के साथ-साथ, जिसका ज़िक्र हमने पहले अध्याय में किया था, रविवासरीय विद्यालयों की उपस्थिति में भी कमी हुई है। लेकिन इन सभी बाहरी तत्त्वों के पीछे कुछ धार्मिक प्रवृत्तियाँ थीं जो कि इस आंदोलन में ही अंर्तानिहित थीं। धार्मिक अनुभव के जिस विस्तृत भाव ने पाठ्यक्रम में सुधार करवाया उसने बाइबिल-संबंधी निरक्षरता दूर करने के बजाय, बाइबिल के प्रति एक दूषित दृष्टिकोण और फैला दिया, जिससे बाइबिल का ज्ञान पहले के बजाय कम महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगा। जब पाठों में बाइबिल की थोड़ी-सी समालोचना और बाइबिल की प्रामाणिकता के बारे में अधिक युक्ति-संगत सिद्धांत लाने की कोशिश की गई तो आधुनिक बनाये हुए रविवासरीय विद्यालयों में पढ़ी हुई पीढ़ी को ये विद्यालय और भी कम महत्त्व के प्रतीत होने लगे, क्योंकि अब इनके द्वारा धार्मिक शिक्षा का संबंध सामान्य शिक्षा से जोड़ा जाने लगा था। धर्म का जीवन से जितना ज्यादा संबंध किया जाता था, धर्म की विशिष्ट संस्थाओं की शक्ति उतनी ही कम होती जाती थी, और इसलिए धार्मिक शिक्षा की समस्या को रविवासरीय विद्यालयों से हटाकर सामान्य विद्यालयों की बना दिया गया। अब सामान्य शिक्षा के विषय के एक साधारण तत्त्व के रूप में धर्म का अध्ययन किया जाने लगा। इस प्रकार धर्म के बारे में ज्ञान से धार्मिक शिक्षा के ही हटा दिये जाने का खतरा पैदा हो गया, और उदार धर्म शिक्षा की धर्म मंडलीय प्रेरणा, जिस पर रविवासरीय विद्यालय आंदोलन निर्भर था, धार्मिक उदारता की प्रगति के साथ ही धर्म-निरपेक्ष बनने लगी।

इस निदान को स्वीकार किया जाता है कि रविवासरीय विद्यालय पेशेवर धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता को पूरा करने में अपर्याप्त सिद्ध हुए, पर इस समस्या का हल अब भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। सुधार की तीन दिशाएँ सुझायी गई हैं :

(१) सबसे अधिक धर्ममंडलीय ढंग के चर्च यह भार परिवारों पर डाल रहे हैं। उनका कहना है कि अपनी प्रकृति से ही घर से संबंध रखने वाली चीज़ की व्यवस्था स्कूल नहीं कर सकते। रविवासरीय विद्यालय तो केवल परिवार द्वारा सप्ताह भर में दी गई धार्मिक शिक्षा पर और अधिक बल दे सकता है। यदि आधुनिक घर में बच्चे ने कुछ सीखा ही नहीं है तो रविवासरीय विद्यालय उसकी सहायता करने में असमर्थ है।

कैथोलिक बिशपों ने निम्नलिखित ठोस सुझाव दिये हैं :

माँ-बाप को चाहिए कि बच्चों के अन्दर भगवान के प्रति विश्वास जल्दी ही उत्पन्न कराने की व्यवस्था करें। यह ऐसी चीज़ नहीं है जिसे विद्यालय के अधिकारियों द्वारा पढ़ाये जाने के लिए छोड़ा जा सके। इसका आरंभ घर में ही सीधी-सादी प्रार्थनाओं के अभ्यास द्वारा होना चाहिए। यदि सुबह और शाम तथा भोजन से पहले और बाद में प्रार्थना की जाय तो इससे पारिवारिक वाटिका की शोभा बढ़ती है। प्रति दिन निश्चित समय पर छोटी-सी प्रार्थना करने पर वह घड़ी अवश्य ही हमें, शाश्वत तत्त्व के अधिक निकट ले जाती है और इससे हम क्रूस के निशान के प्रति श्रद्धा तथा क्रूसमूर्ति एवं अन्य धार्मिक चिन्हों के प्रति आदर प्रकट करना सीखते हैं। ये वे अभ्यास हैं जिन्हें बच्चे के धार्मिक निर्माण के समय प्रोत्साहन मिलना चाहिए। माँ-बाप को चाहिए वे उस सुदृढ़ अति प्राकृतिक प्रेरणा का उपयोग करें जो ईसामसीह के जीवन से प्राप्त की जा सकती है। बच्चों को ईसा की नकल करने की प्रेरणा देनी चाहिए——विशेषकर उसकी आज्ञा मानने में, धैर्य में तथा औरों का ध्यान रखने में। निस्वार्थ भाव से देने की उस भावना को अपने अन्दर लाने में, जो ईसा की एक विशिष्ट बात थी, उनमें प्रतिस्पर्धा होनी चाहिए। यह अनेक क्रियात्मक

रूपों में, खासकर बच्चों को घर में स्वार्थ-त्याग के काम करने का अवसर देकर किया जा सकता है। "यदि तुम मुझे प्यार करते हो तो मेरे आदेशों का पालन करो" यह ईसा की कसौटी है, और यह कसौटी बच्चे पर अवश्य लागू होनी चाहिए। उसे इस योग्य बनाना चाहिए कि वह भगवान के आदेशों और उपदेशों को अपने ऐसे पथप्रदर्शक के रूप में पहचान सके जो उसके कदमों को सही रास्ता दिखा सकते हैं।

इस तरह के सुझावों पर न केवल आधुनिक माता-पिता मुस्कराते हैं और आधुनिक शिक्षक तिलमिलाते हैं; बल्कि इनसे इस प्रचलित विश्वास को भी समर्थन मिलता है कि पादरी लोग बड़ी आत्म-तुष्टि और अधिकार पूर्ण ढंग से यह मानते हैं कि वे प्राकृतिक कानून द्वारा नैतिक-धार्मिक शिक्षा का उपदेश देने के लिए नियुक्त हुए हैं। घर के जीवन को धर्म-मंडलीय अधिकारी के आदेशानुसार चलाने का प्रयत्न उन कारणों में से एक है जिनसे माता-पिता चाहते हैं कि धार्मिक शिक्षा भी व्यावसायिक शिक्षकों के अधीन हो। कुछ भी हो, यह बात तो असंभव-सी ही लगेगी कि धर्म-मंडलीय अधिकारियों के दबाव से आधुनिक हालतों में पहली-पीढ़ियों के घरेलू विधि-विधान लागू किये जा सकें। पूर्व इसके कि वे अतिप्राकृतिक प्रेरणाएँ जिनकी अपील बिशप लोग करते हैं प्रभावशाली बन सकें, घर में पूजा के लिए एक अधिक स्वाभाविक वातावरण सांस्कृतिक रूप से बनाया जाना चाहिए। चाहे घरेलू पूजा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न व्यावहारिक हो या नहीं, यह तथ्य तो है ही कि पारिवारिक जीवन के धर्म-निरपेक्ष बन जाने से धार्मिक शिक्षा की समस्या में क्रांति आ गई है। इन दोनों बातों में बड़ा अंतर है कि शिक्षा किसी धार्मिक परम्परा और समुदाय के अंतर्गत है या यह एक ऐसी शिक्षा है जिसे कुछ लेखक 'स्वभावतः गैर-ईसाई' कहते हैं। दोनों ही दशाओं में पूर्वाग्रहों से छुटकारा पाना है, परंतु वे पूर्वाग्रह विरोधी ढंग के हैं; पिछली दशा में धार्मिक निरक्षरता के हैं, पहली दशा में निरक्षर या बालधर्म के। दोनों ही दशा में, या तो एक वास्तविक संकट उत्पन्न हो जाता है, या फिर

कोई शिक्षा नहीं हो पाती।

(२) शैक्षिक सुविधाओं और चर्चों के कार्यक्रम का विस्तार सुधार की दूसरी दिशा है। रविवासरीय विद्यालयों के संगठन के अंदर शैक्षिक कार्य के लिए ज्यादा समय देने के प्रयत्न उत्साहवर्धक नहीं रहे हैं। रविवार को एक घंटे से ज्यादा समय के लिए बच्चों को एकत्र करना कठिन है, और रविवासरीय विद्यालय की शिक्षा को सप्ताह के अंदर ले जाना तो और भी कठिन है। सबसे अधिक व्यावहारिक सफलता 'दैनिक अवकाश बाइबिल विद्यालयों' को मिली है जो माता-पिता और बच्चों दोनों में ही प्रिय हैं। वे धार्मिक शिक्षक जो रिक्त समय की योजना को विकल्प के रूप में स्वीकार किए हुए थे। अब आशा कर रहे हैं कि सप्ताह में एक घंटे की जगह उन्हें सप्ताह में एक अपराह्न मिलने लगेगा, और तब वे, स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार, किसी एकमत की या अंतर्मतीय धार्मिक शिक्षा के पर्याप्त केन्द्र बना सकेंगे।

(३) सुधार की एक तीसरी दिशा में यह मानकर चला जाता है कि प्राथमिक विद्यालय, रविवासरीय विद्यालय या घर से सुधार की आशा करना बेकार है, और इस समस्या को मुख्यतया कालेजों में सुलझाना चाहिए। पर इस स्तर पर समस्या का हल लगभग असंभव है; कारण, कुछ तो परिस्थिति ही ऐसी होती है, और कुछ प्रतिद्वंदी व्यवसायों में नियंत्रण के लिए मुकाबला रहता है। न केवल सार्वजनिक कालेजों और विश्वविद्यालयों में जहाँ कि धार्मिक शिक्षा देने की कानूनन मनाही है, अपितु प्रमुख व्यक्तिगत कला महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में भी इन दो में अंतर किया जाता है; एक तो धर्म के बारे में शिक्षा जिसकी कई विभागों में अनेक शाखाएँ हो जाती हैं और जिसे शैक्षिक डिग्री के लिए मान्यता प्राप्त है और दूसरी धर्म की शिक्षा जिसे वैसी मान्यता प्राप्त नहीं है और परिणामतः जो चर्च-प्रतिष्ठान, 'बाइबिल की गद्दी' और धार्मिक संस्थानों के रूप में शिक्षा-संस्थाओं के क्षेत्र और पाठ्यक्रम के किनारे पर रहता है। हावर्ड मम्फोर्ड जोंस ने इस स्थिति का वर्णन

बड़े अच्छे रूप में किया है :

धर्म शब्द की अस्पष्टता के अन्तर्गत प्रायः व्यावहारिक समझौते कर लिये जाते हैं। क्योंकि यदि राज्य विश्वविद्यालयों को धर्मज्ञान संकाय (फैकल्टी ऑफ़ थियोलोजी) चलाने से मना भी कर दिया जाय, तो भी 'तुलनात्मक धर्म' के तो कोर्स किसी की स्थिति बिगाड़ते नहीं, न कोई अनुचित बात मनवाते हैं, बल्कि शायद सद्भाव ही बढ़ाते हैं— अलबत्ता 'तुलनात्मक धर्म' की शिक्षा ने जहाँ-तहाँ उन्हीं कठिनाइयों को और बढ़ा दिया जिन्हें कम करने की आशा इससे की जाती थी। इस प्रकार का कोर्स या तो नीतिशास्त्र के विवेकशील प्राध्यापक या दार्शनिक द्वारा दिया जा सकता है, या वह इतिहास या नृतत्व-शास्त्र के संग के रूप लिया जा सकता है, या फिर इसकी पढ़ाई अँग्रेजी विभाग में 'साहित्य के रूप में बाइबिल', या 'मानव जाति की महान बाइबिलें' आदि के ढंग पर हो सकती है। इसी प्रकार आचार-शास्त्र, समाज-शास्त्र, सामाजिक समस्याओं और साहित्य के कुछ अंशों को वैसा नाम न दिये जाने पर भी धर्म की समस्या से सम्बन्धित समझा जा सकता है। ऐसे कोर्स बिना ध्यान खींचे दो प्रकार से बहुत ज्यादा लाभ पहुँचा सकते हैं : वे परेशानी में पड़े छात्रों को सहायता देते हैं, दूसरे वे चर्चों को आश्वासन देते रहते हैं कि अभी विश्वविद्यालय नास्तिकता के गढ़ नहीं बन गए हैं। पर तुलनात्मक रूप से पढ़ाया गया धर्म वस्तुगत या अवैयक्तिक आधार का धर्म है, और व्यवहार तथा विचार में उसका वैसा सीधा प्रभाव नहीं होता जैसा कि अनेक सम्प्रदाय चाहते हैं।

पूरी तरह से या अंश में, राज्य के खर्चे पर 'धार्मिक सलाहकार' रखने का एक दूसरा तरीका भी है : इस प्रकार का दयालु और निष्पक्ष अधिकारी विश्वविद्यालयों और सम्प्रदायों में संपर्क-अधिकारी का काम करता है।

लेकिन सब मिलाकर यह नहीं कहा जा सकता कि अंडर ग्रेजुएट छात्र अपनी परेशानियाँ धार्मिक सलाहकार के पास ले ही जाते हैं। एक तो इस

अधिकारी को सब व्यक्तियों के लिए सब कुछ बनना पड़ता है—या दूसरे शब्दों में, उसे कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, यहूदी, एग्नास्टिक, और शेष सभी के प्रति बिल्कुल निष्पक्ष रहना पड़ता है। यह स्वयं अपने अन्दर एक असंभव कार्य है। दूसरे, यदि वह निष्पक्ष रहे तो भी, वह ज्यादा से ज्यादा यही कर सकता है कि वह विद्यार्थी की समस्या को उसके पूरे संवेग के साथ उसके धर्म की दिशा में ले जाय। फिर भी कई बार विद्यार्थी इसी अधिकारी से दूर रहना चाहते हैं। और अन्त में यह बात भी धीरे से कह देनी चाहिए कि विशेषज्ञों के संकाय में धार्मिक सलाहकार की स्थिति कोई अच्छी नहीं होती क्योंकि दार्शनिक और वैज्ञानिक मुकाबला बहुत तीव्र होता है, और अब तक उसके पद के लिए अच्छी प्रतिभावाले व्यक्ति सामने नहीं आये हैं। ऐसी दशा में परेशान अंडरग्रेजुएट यदि किसी प्रौढ़ के पास जाएगा भी तो संभावना यही है कि वह व्यक्ति संकाय (फैकल्टी) ही का कोई सदस्य होगा।

विश्वविद्यालय ने इस समस्या को ऊपर के इन दो प्रकारों से सुलझाने का प्रयत्न किया है।

विभिन्न मतों ने भी कुछ मित्रतापूर्ण रास्ते निकाले हैं। उनमें से कुछ सबसे निकट के चर्च में छात्रों के लिए एक विशेष पादरी की नियुक्ति करते हैं। दक्षिण में विश्वविद्यालय के क्षेत्र के निकट अक्सर एक या एक से अधिक ऐसी इमारतें मिल जायेंगी जिनमें तथाकथित बाइबिल की गद्दियाँ स्थापित होती हैं। इसका मतलब यह है कोई विशेष सम्प्रदाय अपने ही एक अध्यापक को आश्रय दे रहा है जो उस सम्प्रदाय की इमारत में बाइबिल, धर्म-शास्त्र या धर्म की शिक्षा देता है। यह शिक्षा काफी परिपक्व अवस्था की होती है जो छात्रों का ध्यान खींच सकती है और विश्वविद्यालय के पाठयक्रमों के साथ बौद्धिक स्तर पर मुकाबला कर सकती है। ये कोर्स पाठ्यक्रम से बाहर के होते हैं और जिस लगन से ये चलाए जाते हैं उसकी प्रशंसा ही की जानी चाहिए क्योंकि कालेज का कोई श्रेय न मिलने पर भी ये अब तक चल रहे हैं।

दूसरी ओर विश्वविद्यालय अपने छात्रों को इतने ऊँचे बौद्धिक स्तर तक प्रशिक्षित करता है जिसे कि एक औसत दर्जे का चर्च या पादरी सन्तुष्ट नहीं कर सकता। विशेषज्ञ व्यक्तियों के द्वारा, चाहे वे कितने ही नीरस क्यों न हों, व्याख्यान दिये जाने के बाद, संभावना यही रहती है कि छात्रों को सामान्य धार्मिक उपदेश चाहे वह प्रोटेस्टेंट हो, या कैथोलिक या यहूदी असन्तोषजनक लगेगा। व्यावसायिक विचारकों द्वारा प्रशिक्षण दिये जाने के बाद, रविवासरीय विद्यालय के अध्यक्ष की अस्पष्ट सी सद्भावना का कोई मूल्य नहीं मालूम पड़ता। अमरीका में राज्य द्वारा सहायता दी जाने वाली उच्च शिक्षा की संस्थाओं के स्नातकों की श्रद्धा को यदि बनाए रखना है तो इसके लिए विश्वविद्यालयों को नहीं अपितु चर्चों को बौद्धिक दृष्टि से सजीव बनना पड़ेगा। इक्के-दुक्के पादरी और चर्च इस बात को समझते हैं, लेकिन यह मानना पड़ेगा कि उनमें से अधिकांश इसे नहीं समझते।

चर्च या राजनीतिज्ञ चाहे इस समस्या को पूरी तरह समझ पाएँ या नहीं, बहुत से शिक्षाशास्त्री, क्योंकि वे व्यावसायिक शिक्षक हैं, ऐसे हैं जो धर्म के बारे में ज्ञान और धार्मिक ज्ञान के इस विरोध को मिटाना चाहते हैं। धर्म-शास्त्र की आधुनिक प्रवृत्तियाँ इस समस्या का हल खोजने में सहायक हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, एक प्रोफेसर ने इस प्रकार लिखा है, और अन्य बहुत से उससे सहमत होंगे :

"कालेजों में धार्मिक शिक्षा के लिए नियुक्त अधिकांश शिक्षक ऐसे हैं जिन्होंने स्नातक-विद्यालयों में तब शिक्षा प्राप्त की थी जब धार्मिक सिद्धान्तों का रुख धर्मशास्त्रों की ओर नहीं हुआ था। इसलिए ईसाई विचार के अग्रगामी भाग और उनकी शिक्षाओं के बीच एक 'सांस्कृतिक पिछड़ापन' रह गया है। और फिर दूसरे शास्त्रीय विभागों की राय यह है कि धर्म की शिक्षा में भी वही निष्पक्षता तथा अवैयक्तिकता होनी चाहिए जो विज्ञान में होती है। इस तरह यदि धर्म के विभाग के अध्यापक कुछ और करना चाहें तो भी उन्हें, अपने सहयोगियों की बात मानने के

लिए मुख्य तौर से ऐतिहासिक या तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है, और यह सब ऐसे समय में हो रहा है जब कि तुलनात्मक धर्म में रुचि रखने वाले योग्य धार्मिक अध्यापक मिलने कठिन हो रहे हैं।

स्पष्ट ही, धार्मिक शिक्षा का धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन के साथ मेल बैठाने की समस्या संस्थागत पुनर्निर्माण की इतनी नहीं है जितनी कि बौद्धिक पुनर्निर्माण की। कोई कारण नहीं कि पूजा और सेवा के स्थानों के साथ-साथ शिक्षा की संस्थाओं में भी धर्म का विकास बुद्धिमत्ता, श्रद्धा तथा युक्ति के साथ क्यों न किया जाय। शिक्षा की दृष्टि से भी धर्म का बड़ा महत्त्व हो सकता है यदि यह समझ लिया जाय कि यह सदा ही एक बुनियादी 'मानवीय विषय' रहा है। यदि यह मानवीय सभ्यता में अपना बुनियादी भाग खो दे, तो अच्छी से अच्छी शिक्षा भी इसे बचा नहीं सकती। जब तक धर्म एक सार्वजनिक सेवा का काम है तब तक धार्मिक निरक्षरता एक सार्वजनिक बुराई रहेगी ही। धर्म के इस मानवीय दर्जे और शैक्षिक कार्य को न केवल धर्ममण्डलों का विरोध करने से उत्पन्न हुई अज्ञानता से खतरा है, अपितु उन धर्मान्धों के ऊँचे अभिमान से भी है जो अपने विश्वास की व्याख्या ऐसे ढंग से नहीं कर पाते जिसका मेल सभ्यता से मिल सके। धर्म के परलोकवाद का तभी तक सम्मान किया जायगा जब तक उसके द्वारा की जाने वाली इस संसार की आलोचना में उद्धार करने की शक्ति होगी। दूसरे शब्दों में, विद्यालय, चर्च और राज्य को सच्चे तौर पर परस्पर सहयोग करना चाहिए, और शक्ति या नैतिक अधिकार पर एकाधिकार पाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।

मिशन

विदेशी मिशन-क्षेत्रों में हुए संस्थागत परिवर्तनों की विवेचना करना यहाँ असंभव और अप्रासंगिक होगा। देश के मिशनों में हुए परिवर्तनों के अलावा जिनसे हमारा सम्बन्ध है वे परिवर्तन हैं जो अमरीका के अन्दर मिशनरी भावना और संगठन में हुए हैं। अमरीका की सभी बस्तियाँ प्रारंभ

में मिशन-क्षेत्र ही थीं, और रोमन कैथोलिक चर्च के लिए तो अमरीका १९०८ तक अधिकृत रूप से एक मिशन प्रदेश था।

यह तो अनिवार्य है कि देश के मिशनों और विदेशी मिशनों में प्रतिस्पर्धा हो, यद्यपि मिशनरी शिक्षा आन्दोलन ने १९२१ से ही उनमें समन्वय कराने का प्रयत्न किया है। प्रोटेस्टेंट लोगों के बीच विदेशी क्षेत्रों को एक शताब्दी तक ज्यादा लोकप्रियता, विस्तार और सहारा मिला। इन क्षेत्रों में विशेषकर भारत, चीन और जापान में काम करने का उत्साह और विनियोग अमरीकी आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थों से कहीं बढ़कर रहा। अवश्य ही, जब धर्म-निरपेक्ष स्वार्थ और साम्राज्यवादी नीतियों ने अमरीकी मिशनों के लिए नये क्षेत्र खोल दिये, तो चर्च भी इस अवसर का लाभ उठाने में चूके नहीं। लेकिन मिशनों की आम भावना के बारे में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में भी सबसे अधिक लोकप्रिय वे ही प्रदेश रहे जहाँ 'अनीश्वरवाद' का सबसे व्यापक प्रचार था—अर्थात् भारत, चीन और 'अन्ध अफ्रीका' यद्यपि अनीश्वरवादिता की भयानकता को बढ़ा-चढ़ाकर ही यह लोकप्रिय अपील की गई थी, और मिशनरी आन्दोलनों के लिए आज भी की जाती है, तो भी यह कहना ठीक ही होगा कि मिशन-बोर्डों के बुद्धिमानी से नियोजित कार्यों के आगे यह धीरे-धीरे दब गई। प्रोटेस्टेंट मिशनों का केन्द्रीकरण बढ़ता गया जिसके परिणामस्वरूप में १८९३ में उत्तरी अमरीका की फॉरेन मिशंस कान्फ्रेंस, १९१० में ऐडिनबरा कान्फ्रेंस और १९२१ में इंटरनेशनल मिशनरी कौंसिल आयोजित हुई। इधर संसारव्यापी कैथोलिक मिशनों के लिए अमरीकी कैथोलिकों की मदद भी बढ़ती गई। इस सबसे मिशनरी गतिविधियाँ अधिक व्यवस्थित, रचनात्मक और बुद्धिमत्तापूर्ण हो गई हैं, और साथ ही जन-साधारण की पारम्परिक भावनात्मक रुचि भी कम नहीं हुई जिस पर कि अन्ततोगत्वा विदेशी क्षेत्रों का आधार बना हुआ है। लेकिन पिछले दो दशकों में, मिशन-बोर्डों के पूर्णतया संस्थागत काम और मिशनों के लिए भावनात्मक धार्मिक उत्साह, इन दोनों में ही अनेक बड़े संकट आये हैं।

पहला संकट १९२० में आया। मिशनरी उत्साह और इसपर आधारित केन्द्रीकृत नियोजन की नाटकीय चरमसीमा 'इंटर चर्च वर्ल्ड मूवमेंट' (१९१९-१९२०) के रूप में सामने आई। अमरीकी धार्मिक नेता जिन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध को बढ़ाने में मदद की थी और जो युद्ध ऋण लेने की विधियों से परिचित हो गए थे, १९१८ में मिलकर देश के नैतिक और आर्थिक स्रोतों को अधिक रचनात्मक ध्येय की ओर ले जाने पर विचार करने लगे। मैथोडिस्ट नेतृत्व के आधीन, बड़ी संख्या में विभिन्न मतों वाले 'विश्व-आन्दोलनों' का संगठन किया गया, और १९१९ में 'इंटर चर्च वर्ल्ड मूवमेंट' की ओर से एक विशाल आन्दोलन शुरू किया गया जिसका उद्देश्य "संयुक्त राज्य अमरीका तथा कैनाडा के धर्मोपदेशीय चर्चों की मिशनरी, शैक्षिक, और अन्य परोपकारी संस्थाओं द्वारा अपने सम्मिलित प्रयत्न से अपने वर्तमान सामान्य कार्यों का सर्वेक्षण करना और उनके लिए मनुष्य, धन और शक्ति के आवश्यक साधन जुटाना" था।

'इंटर चर्च वर्ल्ड मूवमेंट' के उद्देश्यों की घोषणा एक महत्त्वाकांक्षी और व्ययसाध्य योजना के रूप में की गई। (प्रदर्शित सामग्री संख्या ४ देखिए)। बड़े-बड़े कार्यालय स्थापित किये गये और प्रोटेस्टेंट चर्चों का काम एक बड़े व्यापार के रूप में संगठित किया गया। यह आन्दोलन अभी शुरू ही हुआ था कि इस पर युद्धकालीन योजनाओं के विरुद्ध उठी हुई प्रतिक्रियाओं का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और इसका दिवाला निकल गया। इसके एकाएक ठप हो जाने का कारण यह भी था कि बिशप फ्रांसिस जे० मैक्कॉनेल की अध्यक्षता में स्थापित इसकी एक समिति ने १९१९ की इस्पात हड़ताल पर एक बहु-प्रचारित रिपोर्ट प्रकाशित की थी जो निश्चित रूप से मजदूरों के पक्ष में थी। इस आंदोलन को सबसे ज्यादा चंदा देने वालों में से कुछ ने अवश्य ही इस प्रकार के 'विश्व' कार्य की कल्पना नहीं की थी।

तो भी, उदारवाद और सामाजिक सेवा की मिलीजुली प्रेरणा से मिशन-बोर्डों का सामान्य कार्यक्रम फैलता गया। आर्थिक मंदी से पहले

भी गंभीर आर्थिक कठिनाइयाँ सामने आई थीं जब कि आर्थिक सहायता मिशनरी उत्साह का साथ नहीं दे पाई। १९२८ की जेरूसलम कांग्रेस में बुनियादी मसलों पर विचार-विनिमय हुआ और नीतिसम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय किये गये। 'धर्म-निरपेक्षवाद' के सामान्य शत्रु को दृष्टि में रखते हुए ईसाइयों से कहा गया कि वे सम्मिलित उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्य धर्मावलंबियों से अपील करें, यद्यपि तब भी ईसाइयत की 'अद्वितीयता' और सच्चाई से इनकार नहीं किया गया। यहूदियों को भेजे जाने वाले मिशन पूर्णतया बन्द कर दिये गये और अन्तर्धर्म संगठनों की स्थापना की गई जिनसे मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने की आशा थी। मोटे तौर पर, 'सभ्य बनाने वाले' मिशनों का स्थान अब 'धर्मोपदेश देने वाले' मिशनों ने लिया था। मिशन-क्षेत्र में इस तरह की उदारता आने से, पूर्व में शिक्षा, चिकित्सा, ग्राम तथा उद्योग सम्बन्धी सेवाओं का विस्तार हुआ। लेकिन रूढ़िवादियों को डर था कि कहीं धर्मोपदेशीय ईसाइयत बिल्कुल छूट ही न जाय, और इसलिए उन्होंने बहुत विरोध भी प्रकट किया। १९३० में जोन डी० रॉकफेलर की प्रेरणा और सहायता से जनता के कुछ लोगों ने 'लेमेंस फॉरेन मिशनरी इंक्वायरी' (Lay mens Foreign Missionary Enquiry) नाम की एक समिति स्थापित की जिसने यह पता करने के लिए कि विदेशी मिशनों में ऐसा क्या कुछ है जिसकी सहायता करना जरूरी है बड़े मिशन क्षेत्रों में विशेषज्ञों के अनेक कमिशन भेजे। तथ्य हासिल करने वालों के प्रतिवेदन हार्वार्ड के प्रोफेसर विलियम अर्नेस्ट हाकिंग की अध्यक्षता में नियुक्त एक मूल्यांकन समिति के सामने रखे गए। 'रिथिंकिग मिशंस' के नाम से १९३२ में प्रकाशित इसकी रिपोर्ट से उदार दृष्टिकोण का औचित्य पूरी तरह सिद्ध हो गया।

इस नीति के बारे में जोरदार बहस होती रही है, विशेष तौर से तब से जब से कि यूरोपिन बार्थियनों के द्वारा, जो अमरीका को लाइलाज 'गतिवादी' बताते हैं, एक नया धर्मोपदेशवाद सामने रखा गया है। मिशनरी तरीकों का पुनर्निर्माण करने में व्यावहारिक रूप से ज्यादा सहायक अमरीकी

नेताओं के वे प्रयत्न रहे हैं जिनके द्वारा वे ईसाई धर्मोपदेशवाद में पूर्वी धार्मिक विधियों (जैसे हिन्दू आश्रम और सामान्यतया ध्यान) को लाना चाहते थे। जोन सी० बैनेट के द्वारा एक ध्यान की स्थिति का सुझाव दिया गया है :

केवल सामाजिक उपदेश ही लोगों को ईसाई सन्देश की ओर प्रवृत्त नहीं कर पायेंगे। लेकिन यह धारणा कि ईसाइयत सामाजिक रूप से अप्रासंगिक है उन्हें इस से दूर अवश्य रख सकती है। आने वाले समय में ईसाइयत बहुत से मनुष्यों को अपनी ओर खींच सकती है क्योंकि यह इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों है, क्योंकि यह जहाँ लोगों को सामाजिक दशा को बदलने की प्रेरणा देती है वहाँ उनकी आन्तरिक गहरी आवश्यकताओं को भी पूरा करती है, क्योंकि यह जीवन का एक ऐसा क्रान्तिकारी विश्लेषण सामने रखती है जो आर्थिक व्यक्तिवाद और साम्यवाद दोनों की भ्रांति को दूर कर देता है। धर्मोपदेशवाद पर बल देने में मुख्य कारण मेरा यह विश्वास है कि पिछले बीस वर्षों में धर्म-शास्त्रीय उदारवाद की पृष्ठभूमि रखने वाले चर्चों में ईसाई सन्देश की अद्वितीयता की एक अधिक निश्चित समझ आई है।

यहाँ पर प्रोफेसर बैनेट यह आशा कर रहे मालूम होते कि 'आर्थिक व्यक्तिवाद और साम्यवाद' का 'क्रांतिकारी विश्लेषण' करने में ईसाइयत पहले से अधिक अद्वितीय सिद्ध होगी।

द्वितीय महायुद्ध ने मिशनरी संस्थाओं के लिए सबसे गंभीर संकट पैदा कर दिया, यह और भी गंभीर हो सकता था यदि ऊपर लिखी हालतों ने, पूर्वी धर्म और संस्कृति के प्रति नया दृष्टिकोण पैदा न कर दिया होता। युद्ध ने आम जनता को पूर्व के बारे में कुछ साधारण जानकारी दी। जिसने 'अनीश्वरवादियों' के प्रति उनकी विशेष भावनात्मक अनुभूति समाप्त-सी कर दी। इससे मिशनरी कार्य की बुनियादी प्रेरणाओं में भी एक जबर्दस्त परिवर्तन आने की संभावना है।

जब आमने-सामने के संघर्ष और अन्य पाशविक कार्यों के रूप में पूर्व

और पश्चिम का अप्रत्याशित मिलन हुआ तो मिशनरी कार्य का धार्मिक पहलू पीछे रह गया और धर्म-निरपेक्ष सहायता, भूमि-सुधार, स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी युद्ध के पूर्व की प्रवृत्तियों पर अधिक बल दिया जाने लगा। अभी यह अनुमान लगाना कठिन है कि इसका परिणाम क्या होगा, आया मिशन और ज्यादा खुलेंगे या बिल्कुल ही नहीं रहेंगे। लेकिन ध्यान देने लायक मुख्य बात यह है कि मिशनरी संस्थाओं के साथ तारतम्य और समग्रता के बावजूद मिशनों की सारी धारणा में ही आमूल परिवर्तन आ गया है।

वह बात जिस पर सबसे ज्यादा ध्यान जाता है कैथोलिक मिशनों के नवीकरण का है जिसमें अमरीकी कैथोलिकों को एक महत्त्वपूर्ण भाग अदा करना है। अभी हाल तक अमरीकी कैथोलिकों का सारा ध्यान देश के अन्दर के मिशनों पर ही केन्द्रित था और विदेशी मिशनों की सक्रिय सहायता करने के लिए न तो उनके पास साधन ही थे और न रुचि। लेकिन १९११ से जब कि 'मेरीनोल फादर्स' की स्थापना हुई कैथोलिकों की मिशनरी गतिविधियाँ लगातार बढ़ती रही हैं और वे प्रोटेस्टेंट मिशनों की आम दिशा में ही बढ़ी हैं। १९२१ में 'सेंट कोलम्बन्स फॉरेन मिशन सोसायटी' ने अपना शिक्षालय खोला, और १९४३ में 'एकेडैमिया फार मिशन स्टडी' ने सभी कैथोलिक शिक्षालयों में मिशन कार्यक्रम की शिक्षा की व्यवस्था कर दी। अमरीकी दिलचस्पी के मुख्य मिशन क्षेत्र जापान, चीन, फिलिपाइंस और दक्षिणी अमरीका है। कैथोलिक और प्रोटस्टेंट मिशनों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही मित्रतापूर्ण हैं! सब मिलाकर, कैथोलिक लोग ईसाइयत की ओर धर्म-परिवर्तन पर ज्यादा बल देते रहे हैं, जैसा कि प्रोटेस्टेंट उदारवाद से पहले करते थे। कैथोलिकों के तरीके कुछ भिन्न हैं—वे उपदेश और शिक्षा में कम और अनाथालय चलाने या अकाल में सहायता देने जैसे परोपकार के कामों में ज्यादा विश्वास करते हैं। लेकिन युद्ध के द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों ने कैथोलिकों को और धर्मों के बजाय 'अधार्मिकता' और नास्तिकता, अर्थात् साम्यवाद पर अपना ध्यान केन्द्रित करने को प्रेरित किया है। उनकी दृष्टि में संसार को ईश्वरहीनता से बचाने

का काम सबसे महत्त्वपूर्ण है। प्रोटेस्टेंट इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हैं, तो भी उन्हें नई राजनैतिक परिस्थितियों और पूर्व में बढ़ती हुई 'धर्म-निरपेक्ष' भावना के अनुकूल बनाने के लिए अपने मिशनरी प्रोग्राम में भारी परिवर्तन करना पड़ा है।

विदेशी मिशनों के बारे में पुनर्विचार करने के परिणामस्वरूप देश के अन्दर के मिशनों की ओर तुरंत ध्यान गया। लेकिन इस क्षेत्र में भी पिछली आधी शताब्दी में नाटकीय ढंग से पूर्ण नवीकरण हो गया है। जहाँ कि पहले 'घर में विदेशियों' (रेड इंडियन, बाहर से आये व्यक्ति, अलग पड़े हुए पहाड़ी प्रदेश और चर्च समुदायों) के काम को प्राथमिकता दी जाती थी, अब यह काम 'समाज कल्याण' या सामाजिक कार्य के अधिक विस्तृत कार्यक्रम के अधीन हो गया है। सामाजिक सेवा की धारणा भी अब पहले से अधिक विस्तृत हो गई है और उसमें अब मामूली परोपकार और स्वास्थ्य सेवा से कहीं ज्यादा बातें शामिल हो गई हैं। परिणामतः एक पूरी तरह शहरी पैरिश न केवल एक संस्थागत चर्च होता है अपितु वह धर्म-निरपेक्ष स्थानीय कल्याण-कार्य और बड़े पैमाने की राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ सहयोग भी करता है। परिस्थितियों ने इन संस्थाओं को बाध्य कर दिया है कि वे पारम्परिक परोपकार के काम को पीछे छोड़कर श्रम, विधि-निर्माण, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा अन्य ऐसी ही बातों पर ध्यान केन्द्रित करे जो आधी शताब्दी पहले धार्मिक संस्थाओं के काम के लिए सर्वथा आनुषंगिक समझी जाती थीं।

इन सभी परिवर्तनों से पता चलता है, चाहे सिद्ध न होता हो कि मिशनों के पूरी तरह संस्था का रूप ले लेने के साथ-साथ मिशनरी-कार्य के स्वरूप में बहुत अंतर आ गया है। ईसाई-मिशनरी संसार को तो ईसा के पास नहीं ला सके हैं, हाँ वे ईसाइयत को संसार तक अवश्य ले आये हैं। उन्होंने मानवता की अनेक प्रकार से सेवा की है और संसार के कामों में अपने भाग से ज्यादा ही अदा किया है। एक मिशनरी के अंदर अब भी पहले की तरह मानव जाति का उद्धार करने की धार्मिक लगन होती है लेकिन वह इस लगन को

एक सच्चे कार्यकर्त्ता के रूप में सेवा करके दिखाता है। वह एक अध्यापक, चिकित्सक, नर्स, कृषि-विशेषज्ञ या श्रम-नेता कुछ भी हो सकता है। एक पादरी के रूप में भी (और अब मिशनरियों में पादरी अल्पसंख्या में है) वह उपदेश देने के बजाय मनुष्यों की उन रूपों में सेवा करता है जिन्हें गैर-ईसाई भी उपयोगी मानते हैं। इस प्रकार संस्थागत धर्म ने सिद्धांतों के प्रचार के बजाय अपने व्यवहार द्वारा विद्रोही संसार के आगे भी अपना औचित्य सिद्ध कर दिया है, क्योंकि वास्तव में ऐसी संस्थाएँ बहुत ही कम हैं जो सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति क्रियात्मक वफ़ादारी उत्पन्न करती हैं।

सबसे अधिक व्यंग्यात्मक और ध्यान देने योग्य परिवर्तन अमरीकी यहूदी धर्म में हुआ है। इस धर्म में पहले कभी भी मिशन नहीं रहे और उसका सामाजिक कार्य परम्परागत रूप से स्थानीय और धर्म-निरपेक्ष रहा है। लेकिन अब इसके सामने इज़राइल के रूप में सबसे बड़ा मिशन-क्षेत्र है, और यहूदी राष्ट्र की सहायता करने की तीव्र भावना भी इसमें है। कट्टर ज़ियोनवाद की ओर से सारे यहूदी धर्म को इज़राइली बनाने का जो प्रयत्न किया जा रहा है वह ख्याली ही है, क्योंकि अमरीकी यहूदियों में से ज्यादातर अपनी दुहरी वफ़ादारी बनाये रखने के बजाय इसके कि वे अपने को निर्वासित व्यक्ति मानें। लेकिन संभवतः आने वाले कुछ समय में अमरीकी और इज़राइली नेता एक-दूसरे के प्रदेश को मिशन-क्षेत्र मानते ही रहेंगे।

विश्वव्यापी प्रवृत्तियाँ

यूरोपीय धार्मिक नेताओं ने यह बात आम तौर से देखी है कि अमरीकी 'श्रद्धा और संगठन' में एकता लाने के बजाय कर्म और सेवा में एकता लाने के लिए अधिक उत्सुक होते हैं। एक आम कार्यक्रम जिसने बीसवीं सदी में प्रोटेस्टेंट नेताओं की कल्पना को सबसे ज्यादा उभारा है, वह है सब चर्चों में उनकी श्रद्धा और पूजा में विभिन्नता कायम रखते हुए समन्वय लाने के लिए प्रयत्न करना। शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में चर्चों में एकता कायम करने के लिए 'सम्प्रदायवाद' पर तीव्र आक्रमण किया गया। कई महत्त्व-

पूर्ण सम्प्रदाय एक हो भी गए, लेकिन मिलकर वे और अधिक शक्तिशाली सम्प्रदाय बन गए। अलग-अलग चर्चों ने, यद्यपि जहाँ-तहाँ वे आपस में मिल गए हैं, काफी अच्छी अपनी ऐतिहासिक विशिष्टता बनाये रखी है यद्यपि उनका स्वरूप अब वह नहीं रहा है जो परम्परा से चला आता था। इस समय अमरीका में लगभग २५० स्वतंत्र धार्मिक संस्थाएँ हैं लेकिन केवल ५४ चर्चों की रिपोर्ट में उनकी सदस्य-संख्या ५०,००० से ज्यादा बतायी गई है, और दस लाख से ज्यादा सदस्यता वाले चर्चों की संख्या केवल १४ है। ये संस्थाएँ क्रम के अनुसार निम्नलिखित हैं : रोमन कैथोलिक, मैथोडिस्ट, सदर्न बैपटिस्ट, नेशनल बैपटिस्ट कन्वेंशन, यू० एस० ए०, नेशनल बैपटिस्ट कन्वेंशन ऑफ़ अमेरिका; प्रेस्बिटेरियन चर्च इन दि यू० एस० ए०; प्रोटेस्टेंट ऐपिस्कोपल; यूनाइटिड लूथर चर्च इन अमेरिका; डिसाइपल्स ऑफ़ क्राइस्ट; नार्दर्न बैपटिस्ट कन्वेंशन; ईवेंजैलिकल लूथरन सिनोड ऑफ ओहियो; कांग्रीगेशनल क्रिश्चियन, अफ्रीकन मैथोडिस्ट ऐपिस्कोपल और चर्च ऑफ जीसस क्राइस्ट ऑफ लेटर डे सेंट्स। अमरीका में यहूदियों की संख्या लगभग ४५ लाख है और इसमें ऐसे यहूदी भी शामिल हैं जो ज्यूडाइस्ट नहीं हैं।

सारे ईसाइयों को एक ही संस्था में मिलाने का प्रयत्न अब व्यवहार-रूप में छोड़ा जा चुका है। विशेष तौर पर कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट और यहूदियों के बीच की रेखाएँ तो अच्छी तरह निश्चित हो गई हैं और ये तीन दल अब धर्म-परिवर्तन का प्रयत्न किये बिना एक-दूसरे से सहयोग करने लगे हैं। सहयोग का उद्देश्य इस समय तो विरोध समाप्त करना है, लेकिन ज्यों-ज्यों 'धर्म-निरपेक्षवाद' से उनका संघर्ष बढ़ रहा है त्यों-त्यों सामान्य रुचि के रचनात्मक क्षेत्र भी सामने आ रहे हैं।

इन तीन बड़े धार्मिक दलों के अंदर संस्थागत संगठन में काफी प्रगति हुई है। यहूदियों के बीच कट्टरपंथी, रूढ़िवादी और सुधारवादियों के बीच की पारम्परिक रेखाएँ अब टूटने लगी हैं। इसका मुख्य कारण नाज़ियों द्वारा यहूदियों को सताये जाने की सामान्य समस्या और इज़राइल के रूप में

एक मातृभूमि का निर्माण है। इन परिस्थितियों ने अमरीकी यहूदी धर्म में दुहरी राष्ट्रीयता ला दी है : एक ओर तो राष्ट्र के ऐतिहासिक विश्वास के रूप में इज़राइल के धर्म पर बल और दूसरी ओर अमरीका में पैदा हुए यहूदियों के अमरीकी नेतृत्व पर बल।

रोमन कैथोलिक चर्च अवश्य ही संगठन में एकता लिये हुए है। पर इसमें पहले जो काम स्थानीय या अंतर्राष्ट्रीय ढंग से होते थे वे अब राष्ट्रीय स्तर पर संगठित किये जाने लगे हैं। १९१९ में बनायी गई 'नेशनल कैथोलिक वेल्फेयर कान्फ्रेंस' अपनी कई शाखाओं के साथ इस काम को बहुत तेज़ी के साथ कर रही है। लेकिन इस तरह की कई संस्थाएँ और भी हैं और इन सबसे पता चलता है कि इसके कार्यकर्त्ता दिनोंदिन कितने व्यावसायिक होते जा रहे हैं।

रोमन कैथोलिक लोगों की ओर से कैथोलिक सीमा के बाहर अनौपचारिक मित्रता बढ़ाने के जो भी प्रयत्न किये गए उनका परिणाम उत्साहजनक नहीं निकला। टॉमिस्ट और धर्म-निरपेक्ष दार्शनिकों के बीच बौद्धिक सम्पर्क पहले से अधिक बढ़ गये हैं, यद्यपि उतने नहीं जितने कि यूरोप में। सब मिलाकर कैथोलिक लोगों के लिए प्रोटेस्टेंट या ईस्टर्न ऑर्थोडॉक्स दलों के बजाय धर्म-निरपेक्ष लोगों या यहूदियों के साथ मित्रतापूर्ण आदान-प्रदान करना ज्यादा आसान है।

सबसे बड़ी समस्या प्रोटेस्टेंट चर्चों की है और इन्होंने ही कार्य में एकता को बढ़ावा देने का सबसे अधिक प्रयत्न भी किया है। इस शताब्दी से पहले की वाई० एम० सी० ए०, वाई० डब्ल्यू० सी० ए०, विद्यार्थी स्वयंसेवक आंदोलन, रविवासरीय विद्यालय संघ, क्रिश्चियन एंडीवर मूवमेंट और डब्ल्यू० सी० टी० यू० आदि अनेक संस्थाएँ ऐसी हैं जिनका किसी मत से संबंध नहीं है और जिन्होंने दो या अधिक मतों के अंदर अधिकृत संघ बनाने का रास्ता खोल दिया है। केंद्रित कार्य को आगे बढ़ाने में ऊपर कहे गए मिशन बोर्डों और धार्मिक शिक्षा परिषदों का प्रमुख हाथ था। दो प्रकार के स्थानीय संघ भी बहुत प्रभावशाली थे : एक तो नगर या राज्य के चर्चों

के संघ और दूसरे निर्मतीय या अंतर्मतीय सामुदायिक चर्च। १९०८ में 'फेडरल कौंसिल ऑफ् दि चर्चिज़ ऑफ् क्राइस्ट इन अमेरिका' के निर्माण के साथ सहयोग के लिए एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन शुरू हो गया। उस समय भी यह ७५ प्रतिशत प्रोटेस्टेंट चर्च के सदस्यों का प्रतिनिधित्व करता था, और १९५० में 'नेशनल कौंसिल ऑफ चर्चिज' के रूप में इसके विस्तार के बाद लगभग सभी प्रोटेस्टेंट इसमें शामिल हैं।

प्रथम महायुद्ध के समय और औद्योगिक संबंधों को सुधारने के प्रारंभिक प्रयत्नों के समय बड़ी कठिनाइयाँ सामने आईं। लेकिन दो दशकों के अपने अनुभव के आधार पर, १९३२ में फेडरल कौंसिल ने अपनी गतिविधियों में अधिक अच्छा संगठन लाने के लिए और अपने उत्तरदायित्वों का और अच्छा निरूपण करने के लिए अपने विधान में कुछ परिवर्तन किए। इसने सारे स्थानीय संघों से अपने संबंध तोड़ लिए। साथ-ही-साथ इसने अपने आयोगों को अधिक स्थिरता और निश्चितता प्रदान की और उनके विशेषज्ञों का स्टाफ़ भी बढ़ा दिया। छान-बीन का काम, सामाजिक कार्य और मिशनरी काम के अलावा सहयोग की इन संस्थाओं की एक बड़ी सफलता यह भी थी कि उन्होंने चर्चों के बीच सौजन्य के सिद्धांतों का ब्यौरा तैयार किया।

१९३८ तक फेडरल कौंसिल का सालाना बजट २५०,००० डालर का था जिसका केवल एक-चौथाई भाग सीधा सदस्यता से आता था, शेष धन विभिन्न स्रोतों से विशिष्ट उद्देश्यों के लिए एकत्र किया जाता था। इसकी सबसे अधिक सक्रिय समितियाँ इनके बारे में थीं : चर्चों की कौंसिल, धर्मोपदेशवाद और जीवन-सेवा, समाज-सेवा, अंतर्राष्ट्रीय न्याय, सद्भावना, जातियों के बीच में संबंध, नशा बंदी और ईसाई शिक्षा। एम० अर्नेस्ट जौंसन के नेतृत्व में शोध और शिक्षा का विभाग खास तौर पर सक्रिय था।

प्रोटेस्टेंट लोगों के बीच विश्वव्यापी आंदोलन के विकास और 'ईसाइयत की एकता' स्थापित करने के लिए आयोजित कान्फ्रेंसों की शृंखला से

यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इनसे विभिन्न धार्मिक संस्थाओं को कोई नुकसान हुआ है। यद्यपि कुछ संस्थाएँ आपस में मिल गई हैं, अलग-अलग मतों का आम ढाँचा पहले से ज्यादा मजबूत है। दलबंदी पर किये गए आक्रमणों से हो सकता है कि अधिक मित्रतापूर्ण वातावरण बना हो, लेकिन अमरीकी धार्मिक संस्थाओं में मत अभी भी आधारभूत हैं, और वास्तव में वे चर्च भी जो एकता पर सबसे अधिक बल देते हैं हमारे धार्मिक बहुत्व में एक और पेचीदगी पैदा कर देते हैं। डीन स्पैरी ने इस स्थिति को बहुत अच्छी प्रकार सामने रखा है :

हमारे अमरीकी मत न तो अधिकार की आत्म-संतुष्टिपूर्ण आवाज़ उठा सकते हैं और न विरोध की ऊँची आवाज़ ही। अपनी स्वाभाविक अन्तर्दृष्टि के सत्य को खोए बिना चर्च के हर सदस्य को दूसरे दल की स्थिति के सत्य की संभावना को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसमें व्यावहारिक कठिनाई यह है कि बहुत कम व्यक्ति ऐसा करने की योग्यता रखते हैं। अधिकतर को यह अनुभव होता है कि ऐसा करने से वे राज्य के पक्ष द्वारा अपने विश्वासों को दब जाने दे रहे हैं। लेकिन एक दूसरे की ओर से उदासीन बने रहने से तो कुछ बनेगा नहीं। अपने संगठित धार्मिक जीवन में इस मतवाद के आधार पर ही अमरीका ने इस समस्या की व्याख्या के लिए सबसे पूर्ण तथा स्वतंत्र अवसर दिया है।

लेकिन अभी यह देखना बाकी है कि डीन स्पैरी जिसे 'अमरीकी मत-वाद' कहता है उसके आधार पर बड़ी-बड़ी धार्मिक संस्थाएँ जीने और जीने देने के लिए तैयार हो जायगी या नहीं। यह कोई छिपी हुई बात नहीं है। प्रोटेस्टेंट विश्वव्यापिता कैथोलिकवाद के लिए एक चैलेंज है और एकता में शक्ति का अनुभव करने के साथ-साथ ईसाइयत के इन दोनों पक्षों में तनाव बढ़ता जा रहा है। जब तक सभी धार्मिक संस्थाएँ साम्यवादी नास्तिकता और उदारवादी धर्म-निरपेक्षवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष में एक हो सकती हैं, तब तक उनके धार्मिक भेद दबे रहेंगे और वे पवित्रता की शक्तियों का प्रतिनिधित्व करेंगी। लेकिन यह भी संभव है कि संयुक्त राज्य में धार्मिक

युद्ध फिर शुरू हो जायँ और स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के लिए एक बार फिर वैसी ही अपील आए जैसी कि 'फाउंडिग फादर्स' के दिनों में आई थी।

इस बीच, विश्वव्यापिता वाले प्रोटेस्टेंट और रोमन कैथोलिक दोनों ही बिना मतवाद या एकरूपता को उत्पन्न किये अपने धार्मिक भेदों को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। प्रोटेस्टेंटिज्म अब अपने स्वभाव या सिद्धांत में केवल कैथोलिक विरोधी या विद्रोही नहीं रहा है। सार्वजनिक मामलों पर एकता से काम करने की आवश्यकता को इसने समझ लिया है; इस दृष्टि से यह धर्म-संस्थान में शक्ति के केन्द्रीकरण के रोमन कैथोलिक नमूने के विरुद्ध लड़ रहा है। प्रोटेस्टेंट चर्चों के संघीकरण के लिए दो प्रेरक हैं: उन्हें अमरीकी जीवन की धार्मिक परम्परा में बहुमत में होने का गर्व है और वे एक सुसंगठित अल्पमत को सामाजिक सदाचार, सैम्सीय नैतिकता, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, श्रम-आंदोलन और आम राजनीति में कोई अधिकारपूर्ण भाग अदा करने नहीं दे सकते। अगर वे पूरी तरह सुरक्षित होते तो शायद वे कोई सम्मिलित मोर्चा बनाना पसंद न करते, लेकिन बढ़ते हुए धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष विरोध ने उन्हें पास-पास आने की व्यावहारिक आवश्यकता बता दी है। इस तरह, और सभी संस्थाओं के समान, चर्चों का संगठन भी भय, साहस और कर्म का संमिश्रण है। इसके प्रारंभिक जीवन में कर्म की प्रधानता रही, लेकिन अब संघर्ष अनिवार्य और बढ़ते हुए प्रतीत होते हैं।

हमें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि उन मतवादी और फंडामेंटलिस्ट चर्चों ने भी जिन्होंने विश्वव्यापिकता के बंधुत्व में शामिल होने से मना कर दिया था अब एक संघीय भावना आने लगी है। ऐसी अंतर्मतीय एजेंसियों में प्रमुख है 'अमेरिकन कौंसिल ऑफ क्रिश्चियन चर्चिज' जिसकी स्थापना १९४१ में 'फेडरल कौंसिल ऑफ चर्चिज़' के और 'इंटरवर्सिटी फैलोशिप' के जो कालेज के विद्यार्थियों का एक फंडामैंटलिस्ट संगठन है आधुनिकवादी तथा समाजवादी प्रभाव को दूर करने के लिए की गई थी।

धार्मिक प्रेस

धर्म में आये हुए परिवर्तन का सबसे अच्छा सूचक १९०० से पहले के और अब के धार्मिक साहित्य (विशेषकर आवधिक साहित्य) में पाया जाने वाला अंतर है। यद्यपि धार्मिक पत्रिकाओं का प्रसार लगातार बढ़ता रहा है, धर्म-निरपेक्ष पत्रिकाओं की वृद्धि के मुकाबले में इसमें ह्रास हुआ है। इस संबंध में खोज करने वाले प्रोफेसर ए० मैक्कलंग ली का कहना है कि चर्च का साहित्य जहाँ एक शताब्दी पहले आबादी के तीन-चौथाई भाग तक पहुँचता था वहाँ अब धर्म-निरपेक्ष दैनिक प्रेस के दसवें भाग तक ही पहुँचता है। लेकिन इस आपेक्षिक परिभाषात्मक ह्रास से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण वह परिवर्तन है जो धार्मिक प्रकाशनों की पाठ्यवस्तु के स्वरूप में आ गया है। मैथोडिस्ट मत के 'क्रिश्चियन एडवोकेट' (सबसे बड़ा प्रोटेस्टेंट साप्ताहिक, वितरण ३,४०,०००) और क्रिश्चियन हैराल्ड (लगभग वही वितरण-संख्या) में १९०० के मुकाबले कम-से-कम तीन गुना धर्म-निरपेक्ष सामग्री अधिक है, और महीने में ४,३४,००० प्रतियों में छपने वाला एक अग्रणी कैथोलिक पत्र 'एक्सटेंशन', प्रोफेसर ली के शब्दों में, अपनी बनावट और पाठ्यवस्तु में धर्म-निरपेक्ष 'सेटरडे ईवनिंग पोस्ट' से बहुत ज्यादा मिलता है। इनसे भी अधिक ध्यान 'कामन वील', 'अमेरिका', 'दि क्रिश्चियन सेंच्वरी', 'क्रिश्चियैनिटी एंड सोसायटी' जैसे पत्रों पर जाता है जो धार्मिक क्षेत्रों में अपने-अपने राजनैतिक और सामाजिक समाचारों और विचारों के लिए पढ़े जाते हैं। और इन सब के ऊपर 'क्रिश्चियन साइंस मानीटर' है, जिसने पत्रकारिता के लिए एक ऊँचा मानदंड कायम किया है। संक्षेप में, चर्चों के पत्र और पत्रकार सांसारिक मामलों पर—शायद धार्मिक दृष्टि से—विचार करने में धर्म-निरपेक्ष पत्रकारों के साथ प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं, लेकिन जिस रुचि को वे अपील करते हैं वह पचास वर्ष पूर्व धार्मिक प्रेस द्वारा उत्थान करने वाली और भक्ति की भावना जगाने वाली रुचि से सर्वथा भिन्न है। और रुचि का यह परिवर्तन पादरी

से जन-साधारण की ओर का परिवर्तन नहीं है, क्योंकि पादरी लोग स्वयं ही इस परिवर्तन को लाने में अगुआ बन गए हैं।

धार्मिक चर्चा गोष्ठी (लॉबी)

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि अमरीकी लोगों को धर्म में निहित स्वार्थ राजनैतिक प्रभाव डालने वाले दल के रूप में संगठित न होता तो यह प्रजातंत्रीय राजनीति में कारगर नहीं हो सकता था। राजनैतिक दबाव डालने वाले दलों के रूप में धार्मिक संस्थाओं का विकास पिछले तीस वर्षों की एक ध्यान देने योग्य घटना है। किसी विशेष उद्देश्य से बनाये गए धार्मिक संगठन तो एक शताब्दी पहले भी थे; धार्मिक लोगों द्वारा दासता-विरोधी, अभियान, शराब-बन्दी लीग और शांति-संगठनों के रूप में कानून बनवाने के प्रयत्न किये गए। लेकिन हाल में दो मुख्य उद्देश्यों को लेकर स्थायी गोष्ठियों का विकास हो गया है : एक तो धार्मिक संस्थाओं के कानूनी हकों की रक्षा करना, और दूसरे उन धारासभाई प्रयत्नों को धार्मिक स्वीकृति देना, जिनका प्रभाव चर्च के सदस्यों की अंतरात्मा तथा आदर्शों पर पड़ता है। पहले प्रकार में वे दफ्तर आते हैं जिनका काम किसी दल-विशेष के स्वार्थों की रक्षा तक सीमित रहता है। दूसरे प्रकार की एजेंसियाँ अधिक साधारण हैं और अनेक प्रकार के विषयों पर विधि-निर्माण में दबाव डालती हैं और यही ख़ासकर बीसवीं सदी की उपज हैं।

पहली बड़ी चर्चागोष्ठी की स्थापना १९२० में नेशनल 'कैथोलिक वेलफेयर कान्फ्रेंस' के द्वारा हुई थी जो प्रथम महायुद्ध से आनुषंगिक रूप से संबद्ध गतिविधियों को चलाने के लिए बनायी गई 'नेशनल कैथोलिक वार कौंसिल' के अनुकरण पर काम कर रही थी। 'नेशनल कैथोलिक वेलफेयर कान्फ्रेंस' का न केवल कानूनी विभाग बल्कि सभी विभाग राजनैतिक कार्य के लिए संगठित किये गए हैं। वाशिंगटन में उनका २५० व्यक्तियों का स्टाफ है और इसके द्वारा बिशप लोग, जिनके सीधे नियंत्रण में कौंसिल रहती है, जहाँ चाहे वहाँ धारासभाई दबाव तुरंत और व्यवस्था के साथ

डाल सकते हैं ।

लगभग उसी समय जब कि कैथोलिक सामाजिक कार्य के लिए संगठन बना रहे थे, मैथोडिस्ट लोग वाशिंगटन में मद्य-निषेध के लिए बनाये गए अपने कार्यालय की गतिविधियों का विस्तार कर रहे थे, जिसका उद्देश्य "नैतिक कानून के सार्वजनिक उल्लंघन का स्पष्ट विरोध करना" था । इसके स्टाफ के अब लगभग पच्चीस सदस्य हैं जो 'मेथोडिस्ट फॉरेन मिशन बोर्ड' के वाशिंगटन स्थित कार्यालय के स्टाफ़ के साथ सहयोग करते हैं । साथ-साथ मिलकर वे "....और भ्रष्ट करने वाले साहित्य, पतित करने वाले मनोरंजन, लाटरी तथा जुए के अन्य प्रकारों" को दबाने का, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में ईसाइयत लाने का और आमतौर पर सार्वजनिक आचार सुधारने का प्रयत्न करते हैं ।

मुख्य अंतर्मतीय प्रोटेस्टेंट एजेंसी वाशिंगटन कार्यालय है जिसकी स्थापना 'फेडरल कौंसिल ऑफ चर्चिज़' के द्वारा १९४५ में हुई थी । यह आने वाले बिलों के बारे में नेशनल कौंसिल को रिपोर्ट देती है और "वाशिंगटन में संपर्क कायम करने के सही रास्ते" सुझाती है । प्रोफेसर एबरसोल की एक संक्षिप्त रिपोर्ट के अनुसार,

कौंसिल या इसकी प्रबंध समिति द्वारा मार्च १९४४ से मार्च १९४८ के बीच में साठ से ज्यादा प्रस्ताव और बयान पास किये गए । इन बयानों में बड़े विस्तृत प्रकार के विषय शामिल किये गए जिनमें से कुछ ये हैं : व्यापार समझौते, चर्च और राज्य का अलगाव, विदेशों में संकटकालीन सहायता, सीनेटर बिल्बो के विरुद्ध लगाये गए आरोपों की जाँच का समर्थन, युद्ध के क़ैदी, जापानी अमरीकियों के दावों का चुकाया जाना, विस्थापित व्यक्ति, ग्रीस और तुर्की को सहायता, पूरा रोजगार, शिक्षा के लिए संघीय सहायता, नागरिक अधिकार, धार्मिक संस्थाओं की जनगणना, खाद्य और कृषि, संयुक्त राष्ट्र आदि' !

प्रोटेस्टेंट लोगों के लिए मुकाबले के प्रवक्ता हैं 'नेशनल चर्च लीग ऑफ अमेरिका', 'दि नेशनल एसोसिएशन ऑफ इवैंजैलिकल्स' और

'अमेरिकन कौंसिल ऑफ क्रिश्चियन चर्चिज़' ।

सामान्य कार्यों को बढ़ावा देने के लिए धार्मिक चर्चा-गोष्ठियाँ अवश्य ही धर्म-निरपेक्ष चर्चा-गोष्ठियों के साथ सहयोग करती हैं और विधि-निर्माण पर प्रभाव डालने के लिए वे चर्चा-गोष्ठियों द्वारा काम में लाये जाने वाले सभी उपाय काम में लाती हैं।

सारांश

हमारी शताब्दी के पहले आधे भाग में धार्मिक जीवन कहाँ तक संगठित और संस्थागत हो गया है यह बताने के लिए शायद पर्याप्त से अधिक कहा जा चुका है। अब हम उन सामान्य परिणामों को संक्षेप में देखेंगे जिनका सुझाव इस सर्वेक्षण से मिलता है।

१. और चाहे यह कुछ भी हो, धर्म अमरीका के सबसे बड़े व्यापारों में से है। तकनीकी दृष्टि से यह एक बिना लाभ का —परोपकारी व्यापार है। लेकिन आमतौर पर उपयोगी मानी जाने वाली सेवाओं के लिए पूंजी और श्रम में इसका विनियोग अपार है। इसकी ये सेवाएँ कई धर्म-निरपेक्ष संगठनों के समानांतर चलती हैं और ये तकनीकी ढंग से प्रशिक्षित व्यवसायी व्यक्तियों द्वारा चलायी जाती हैं जिनमें से अधिकतर साधारण लोग होते हैं। इसके पास विशाल संपत्ति है जिसका प्रबंध यह ज्यादा और ज्यादा व्यापारिक ढंग से करता है।

२ यद्यपि धार्मिक संस्थाओं के बीच की प्रतिस्पर्धा पूरी तरह भूतकाल की चीज नहीं बन गई है, इस धार्मिक गति-विधि के मुख्य उद्देश्य धर्म की दिशा में अब उतने नहीं हैं जितनी कि धर्म-निरपेक्ष बुराइयों और सामाजिक समस्याओं की दिशा में। तात्पर्य यह कि चर्च अब केवल सार्वजनिक पूजा के साधन ही नहीं रह गए हैं, वे अब धर्म-निरपेक्ष अर्थ में सक्रिय काम कर रहे हैं। ऐसे काम को चर्च आवश्यक रूप से धार्मिक मानते हैं। दूसरे शब्दों में इस तरह का धर्म मठवाद के विपरीत है, यह धार्मिक जीवन बिताना चाहने वाले लोगों को संसार के काम के बीच में

ही पवित्रता के साथ रहने को बाध्य करता है। इस तरह के धर्म को संसार से पीछे हटना, पलायन का माध्यम, बचकानापन या नाशकारी नहीं माना जा सकता। लाखों लोग इसमें सक्रिय रूप से व्यस्त रहते हैं।

३. धर्म एक व्यापक संस्था है। शिक्षा, चिकित्सा, राजनीति, व्यापार, कला---सबके साथ इसका संबंध है, कुछ भी इसकी पकड़ के परे नहीं है। जीवन के कुछ क्षेत्रों से धर्म को दूर रखने के प्रयत्न ऐसे ही विफल हुए हैं जैसे कि पहले सरकार और विज्ञान के बारे में हुए थे। किसी भी काम को धार्मिक ढंग से किया जा सकता है, और धार्मिक चिंता से कोई भी चीज परे नहीं है। वे दिन चले गए जब आत्मा की मुक्ति एक स्पष्ट रूप से स्वतंत्र कार्य था। चर्च और राज्य के अलगाव से धर्म और राजनीति अलग नहीं हो जाते, जैसे कि विद्यालय और थियेटर के अलगाव से शिक्षा और कला अलग नहीं हो जाती। कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनमें धर्म, सरकार, शिक्षा और कला भी है, जो किसी भी क्रिया या विचार को एक विशेष प्रसंग या अनुशासन दे देती हैं। ऐसी सर्वव्यापी संस्थाएँ ही संस्कृति के बुनियादी स्वरूपों का निर्धारण करती हैं और जीवन को एक सभ्य रूप देती हैं। धर्म का प्रायः यह दावा रहता है कि वह जीवन को पूर्ण रूप में देखता है जबकि दूसरी संस्थाओं का दृष्टिकोण एकांगी रहता है। इस बात पर अवश्य ही शंका की जा सकती है; लेकिन यह निश्चित है कि निकट अतीत की तुलना में अब धर्म सरकार की तरह सारे जीवन पर प्रभाव डालता है या डालने की कोशिश करता है। यह बात सच है कि धर्म हमारी सभ्यता के उस तरह केन्द्र में नहीं है जैसे कि इसके व्यावसायिक भक्त रखना चाहेंगे, लेकिन यह व्यापक है और सभी वर्गों तक पहुँच रहा है तथा हमारी सभी रुचियों तथा कलाओं पर प्रभाव डाल रहा है।

नैतिक पुनर्निर्माण

व्यवहार में धार्मिक चेतना

अमरीका की धार्मिक चेतना में बुनियादी परिवर्तनों पर विचार करने से पहले आइए हम उन विधियों में आये परिवर्तनों को देखें जिनके द्वारा धार्मिक संगठन अपनी नैतिक शक्ति का उपयोग करते हैं। सन् १९०० तक के पारम्परिक विधियों का आधार पादरियों तथा घर में निकट सहयोग था। इनका मुख्य उद्देश्य बच्चे को "अच्छे और बुरे का ज्ञान" देना, धार्मिक विधि-निषेध के प्रति संवेग तथा ईश्वर के प्रति भय और प्रेम की भावना उत्पन्न करना था। ईश्वर में तथा व्यक्ति की आत्मा के दिव्य नियम में बच्चों का-सा विश्वास उत्पन्न करने की यह प्रक्रिया तभी संभव हो सकती थी जब घर में आदतन धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन किया जाता, पुरोहित द्वारा नियमित उपदेश दिये जाते, किसी धार्मिक समुदाय में विधिवत् प्रवेश कराया जाता तथा समय-समय पर अपराध-स्वीकृति, धर्म-परिवर्तन पश्चाताप तथा दैवी करुणा का विश्वास दिलाने के द्वारा सदस्य की धार्मिक निष्ठा को उभारा जाता। धार्मिक चेतना को आकार देने के इस आम नमूने का सभी युगों और स्थानों के लोगों द्वारा अनुसरण किया गया है।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में यदि अमरीकी नमूने में कोई खास बात थी तो यह कि उसमें धार्मिक शिक्षकों द्वारा किशोरावस्था पर ध्यान केन्द्रित किया गया। धर्म-पालन किये जाने वाले विधि-विधानों की पहले से ही बहुत अधिक उपेक्षा होने लगी थी, बच्चों की धार्मिक शिक्षा दिनोंदिन संक्षिप्त और बेकार की होती जा रही थी; लेकिन प्रथम धार्मिक प्रवेश (कम्यूनियन) से लेकर प्रौढ़ावस्था तक देश के युवकों की बहुत ही तीव्र

संवेगी भावनाओं को उभारा जाता था। युवक संगठनों का पनपना आसान है क्योंकि किशोर तो किसी भी चीज़ के लिए इकट्ठे हो ही जायँगे; और जब वे एक बार इकट्ठे हो जायँ तो फिर उन्हें किसी भी उद्देश्य के लिए लगाया जा सकता है, खास तौर से जबकि उनसे भक्ति, आत्म-त्याग, वफ़ादारी और प्रेम के नाम पर अपील की जाय। संगठित धर्म की शक्तियों ने जब यह अनुभव किया कि बच्चों पर उनका नियंत्रण शिथिल पड़ता जा रहा है तो उन्होंने युवकों को नियंत्रित करने के अवसर का लाभ उठाने की पूरी कोशिश की। युवकों के सभी तरह के समाज (जिनमें से कुछ का वर्णन पिछले अध्याय में किया गया है) पनपने लगे। इन आम समाजों के अतिरिक्त कुछ विशेष दल भी थे जिनमें कि बहुत ही तीव्र धार्मिक अपील की जाती थी। विदेशी मिशनों के लिए तैयार किया जाने वाला विद्यार्थी स्वयं सेवक दल इसी प्रकार का था।

इधर तो उदार तथा आधुनिक धार्मिक संगठनों में पारम्परिक और रूढ़िवादी धार्मिक अनुशासन का स्थान 'धार्मिक शिक्षा' लेती जा रही थी और उधर धीरे-धीरे धार्मिक नैतिकता का मतलब भी धर्म-परिवर्तन के बजाय परिवर्तन के बाद प्रौढ़ व्यक्ति के धार्मिक जीवन से होता जा रहा था। इस तरह बीसवीं शताब्दी में धार्मिक संगठनों में प्रौढ़ों के ऐसे अनेक संगठन बने जो उनकी नैतिक तथा सामाजिक समस्याओं को सुलझाते थे। ये संगठन यद्यपि उनकी समस्याओं को धार्मिक दृष्टिकोण से देखते थे फिर भी धर्म-निरपेक्ष परोपकारी संगठनों के साथ उनका सहयोग रहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि मुख्य बल सही या गलत के भाव को उत्पन्न करने की धार्मिक समस्या से हटकर इस बात पर आ गया कि दैनिक व्यवहार के उन नैतिक मसलों को कैसे तय किया जाय जिनके बारे में न केवल सम्मतियों के अपितु विश्वासों के भी मतभेद थे। अब नैतिक उपदेशों का स्थान विचार-विनिमय ने ले लिया, धार्मिक आदेशों के स्थान-पर पैनी बहस होने लगी तथा धर्म-शास्त्रीय उपदेश के स्थान पर सामाजिक प्रचार होने लगा। सिद्धांत रूप से तो चर्च अवश्य ही पारम्परिक तथा

आधुनिक हो सकते हैं और व्यवहार में भी बच्चों तथा युवकों पर पारम्परिक धार्मिक अनुशासन चलता ही है और धर्म-परिवर्तन भी कभी-कभी होते रहते हैं; लेकिन अब संगठित धर्म के वर्तमान उद्देश्य धर्म-निरपेक्ष शिक्षा और दुनियाबी मामलों के अधिक पास आ गये हैं। नैतिक मसलों के बारे में "ईश्वर की इच्छा का उपदेश देना" आज उतना आसान नहीं है जितना कि पचास साल पहले था। अब तो नैतिकता स्वयं ही समस्यामूलक हो गई है और 'टैन कमांडमेंट्स' तथा स्वर्णिम नियम पर न तो धर्म ही आश्रित रह सकता है और न नैतिक सिद्धांत। चाहे यह युक्तिसंगत हो या नहीं, धार्मिक आचार-शास्त्र में तर्क का स्थान अधिक होता जा रहा है। इस प्रकार विधि तथा वस्तु दोनों की ही धार्मिक चेतना में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया है जिसने कि इसे सामाजिक नैतिकता के मसलों के अधिक पास ला दिया है और आत्मा की मुक्ति का संबंध संसार के मामलों से कर दिया है। आइए अब हम इस पुनर्निर्माण के मुख्य पहलुओं पर विचार करें। प्रारंभ हम उनसे करेंगे जिनका संबंध पिछली शताब्दी की व्यक्तिवादी दया तथा परोक्षकारी भावना से था।

धार्मिक सामाजिक संस्थाएँ

मुक्ति-सेना (Salvation Army) अपने नाम और स्वरूप दोनों में ही हमें उन्नीसवीं शताब्दी की देन है। बीसवीं शताब्दी से दो दशक पहले यह अमरीका में इंगलैंड से आयी थी और पहले इसे 'बौवेरी मिशंस' का एक अंग माना जाता था। इसका काम भूले-भटकों की आत्माओं को जीतने से पहले उनके शरीरों को आश्रय देना था। यह अपने को एक धर्मोपदेशक संगठन मानती है।

मुक्ति-सेना का आध्यात्मिक उद्देश्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रारंभ में इसकी स्थापना सर्वसाधारण को धार्मिक प्रकाश देने के लिए हुई थी। अब भी इसका प्रारंभिक और स्थायी उद्देश्य गीत, शब्द और कार्य के द्वारा धर्म-शास्त्रों के पुनर्जीवन देने वाले संदेश को सामने रखना

है । सामाजिक सेवा का काम पूरक काम है ।

लेकिन अब यह एक बड़ी परोपकारी संस्था वन गई है । बीसियों तरह से यह समाज के काम आती है, जिसका सहारा इसे आर्थिक अथवा अन्य रूप में मिलता रहता है । युद्ध के दिनों में यह सिपाहियों और नागरिकों दोनों के लिए एक बड़ी सेवा-संस्था थी । अब यह पुराने सामान के स्टोर, होटल, काम-दिलाऊ-दफ्तर, खेतों की बस्तियाँ, श्रमिकों और बच्चों के लिये घर, दिवसकालीन शिशु केन्द्र लड़कों के क्लब, स्त्रियों की गृह-सभा, सैनिकों के नागरिक जीवन में फिर से स्थापित करने का कार्य, और गंदी बस्तियों को सुधारने आदि का काम करती है । इस प्रकार यह सार्वजनिक अधिकारियों और निजी सामाजिक एजेंसियों द्वारा किये जाने वाले सामाजिक कार्य की पूरक के तौर पर उपयोगी ढंग से सहायता करती है । धर्मोपदेश की प्रेरणा से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण इसका व्यावहारिक सिद्धांत है ।

वह सिद्धांत इस प्रकार है; ईसाइयत और सेवा को पर्यायवाची मान जाता है । कोई व्यक्ति रविवार को धार्मिक सभा में जा सकता है, लेकिन यदि वह औरों की या सारे संगठन की स्पष्ट सहायता के रूप में अपने विश्वास का प्रदर्शन करने को तैयार नहीं है तो उसे एक अच्छा सिपाही नहीं माना जाता । इसलिए मुक्ति-सेना चाहती है कि लोग इसकी कल्याण-सेवा को भावना में आकर भीख दे डालना न समझें, बल्कि इसे गतिमय प्यार या व्यवहार में ईसाइयत मानें । मुक्ति-सेना का उद्देश्य 'पूर्ण मनुष्य' को स्थायी रूप से नवजीवन देना है ।

सिद्धांत में मुक्ति का इसका भाव धर्मोपदेश संबंधी है, व्यवहार में, यह पूरी तरह सामाजिक है, और 'सद्भाव उद्योग' के सामान्य सिद्धांत पर काम करती है । मुक्ति-सेना की व्यावहारिक समझ की नकल पर बहुत-से अमरीकी शहरों में चर्चों ने सद्भाव उद्योग की शाखाएँ स्थापित की हैं । इनमें पुराने सामान के स्टोर चलाने के साथ-साथ गृह-सेवा भी शामिल होती है ।

वाई. एम. सी. ए. और वाई. डब्ल्यू. सी. ए. बीसवीं सदी में युवकों के लिए धार्मिक क्लब के रूप को छोड़कर सामान्य सामुदायिक संगठन बन गए हैं; और अब सभी आयु और सभी वर्गों की आवश्यकता को पूरा करते हैं। वे होटल, व्यायामशाला, प्रशिक्षण-कोर्स, व्याख्यान, संगीत-सभा, विचार-गोष्ठी और ग्रीष्मकालीन शिविर चलाते हैं। विदेशी मिशनों के कार्य-क्षेत्र, कालेज तथा सेना के स्थानों में इनका शक्तिशाली संगठन है। वे जहाँ कहीं भी काम करते हैं अपने साथ धार्मिक सेवा अवश्य उनके साथ रहती है। लेकिन आम तौर से उनकी धर्म-निरपेक्ष सेवाओं के मुकाबले में यह कम ही दिखाई पड़ती है। और ज्यादा ध्यान देने लायक बात यह है कि उन दोनों प्रकार की सेवाओं में अधिक अंतर करने पर वे बुरा मानते हैं। यहूदी सामुदायिक केन्द्रों के रूप में वाई. एम. एच. ए. और वाई. डब्ल्यू. एच. ए. की वृद्धि की कहानी भी कुछ इसी प्रकार की है। कैथोलिक युवक-संगठन अनेक प्रकार की गति-विधियों और सेवाओं का आयोजन करते हैं जो कि केवल इस रूप में अप्रत्यक्ष तौर पर धार्मिक मानी जा सकती हैं कि वे चर्च के कार्य को अधिक विस्तृत बनाती हैं।

अभियानों की एक श्रृंखला

नशा-निषेध के लिए चलाये गए हाल के धार्मिक आंदोलनों के नाटकीय परिणामों से हरेक परिचित है। कम-से-कम आधी शताब्दी तक 'दि नेशनल टेम्परेंस सोसायटी', 'दि डब्ल्यू सी. टी. यू.', 'दि ऐंटि सैलून लीग' और 'दि प्रोहिबिशन पार्टी'' ने जिनमें से सभी धार्मिक संस्थाओं द्वारा शुरू की गई थीं, मदिरा-गृहों को बंद करने के लिए अपना आंदोलन जारी रखा। स्थानीय नशाबंदी या फिर नगर और काउंटी के चुनावों में 'स्थानीय विकल्प' की वजह से इसे सफलता भी मिली। चर्चों के अन्दर नशा-निषेध के लिए चलाये गए सतत आंदोलन और कभी-कभी मदिरा-गृहों के विरुद्ध प्रदर्शन किये जाने के द्वारा ही यह सफलता संभव हो सकी थी। व्यवहार में शराबीपन के विरुद्ध अभियान, जो बहुत पहले

से चला आ रहा था, बीसवीं सदी के नशाबंदी कानून के साथ एक करके माना जाने लगा। १९०७ और १९१७ के बीच नशाबंदी के पक्ष की भावना और मत देने के अधिकार ने यह संभव बना दिया कि राज्य भी नशाबंदी की ओर कदम उठा सकें। परिणामतः इस दशक में लगभग तीन चौथाई राज्यों में नशाबंदी लागू हो गई। दक्षिण और पश्चिम में यह आंदोलन सबसे प्रबल था। राज्यों की इस ओर प्रवृत्ति और युद्ध की आपत्कालीन दशा का लाभ उठाकर, चर्चा-गोष्ठियों के रूप में काम करती हुई नशाबंदी की शक्तियों ने १९१७ में संघीय संविधान में अठारहवाँ संशोधन पास करवा ही दिया जो १९३३ में ही जाकर हटाया जा सका। १९१७ में नशबांदी की विजय, और विशेषकर १९३३ में इसकी पराजय ने सभी नैतिक समस्याओं के प्रति जिनमें नशाबंदी भी शामिल है धर्म के दृष्टिकोण में बहुत गंभीर परिवर्तन कर दिए हैं। पहली बात तो यह है कि वे धार्मिक संस्थाएँ और समुदाय जो पूरी तरह नशाबंदी का समर्थन करते थे अब इस बारे में अलग-अलग राय रखते हैं। दूसरे, नैतिक कानून बनाने की प्रभावशालिता और अनिवार्य नशाबंदी के नैतिक मूल्य में जो विश्वास पहले था, इस अनुभव से वह अब हट गया है। तीसरे नशाबंदी की समस्या, जो पहले सबसे अलग थी, इसके द्वारा अब दूसरे नैतिक आदर्शों विशेषकर स्वतंत्रता, शिक्षा, उत्तरदायित्व, समग्रता और कानून के प्रति संमान के साथ जोड़ दी गई है। इसका नतीजा यह हुआ है कि अब न केवल नशा-निषेध के बारे में अपितु आम तौर पर सभी सद्गुणों के बारे में एक यथार्थवादी और आपेक्षिक दृष्टिकोण से काम लिया जाता है। जो यह पहले संभव नहीं था क्योंकि धर्म नैतिकता के बारे में कोई समझौता करने को तैयार नहीं था। निरपेक्षवाद की पहली मनोवृत्ति, जिसे अब आम तौर पर 'आदर्शवाद' कहा जाता है और जिसमें इस विश्वास का व्यवहार-पक्ष आता था कि भलाई और बुराई की शक्तियों के बीच संघर्ष का नाम ही नैतिकता है, अब समाप्त होती जा रही है। इसका स्थान धीरे-धीरे यह धारणा लेती जा रही है कि विभिन्न नैतिक सम-

स्याओं को व्यावहारिक ढंग से सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि आक्रामक ढंग से। बहुत से धार्मिक व्यक्ति तो अब भी नैतिक मूल्यों के संघर्ष संबंधी सिद्धांतों में विश्वास छोड़ने को तैयार नहीं होंगे, और न समझौते के आचार शास्त्र को मानेंगे, लेकिन व्यवहार में निंदा के बजाय उनका अधिक ध्यान 'युद्ध-नीति' पर रहता है। धर्म-निरपेक्ष नैतिकवादियों की तरह बहुत से धार्मिक व्यक्ति भी कानूनन नशाबंदी का विरोध करने वाले लोगों के इस तर्क से सहमत हो गये थे कि मदिरा-लयों को शराब बेचनेवाली दुकानों के रूप में बदलकर लोगों की शराब पीने की आदत छुड़ायी जा सकेगी, या फिर शराब पर टैक्स लगाने से वे लोग रुक जायेंगे जो नशाबंदी कानून से नहीं रुक पाए थे। इस प्रकार वे उस संशोधन के हटाये जाने को एक अस्थायी हार न मानकर नशा-निषेध के आंदोलन के एक बिलकुल नये प्रकार की शुरुआत मानने को तैयार हो गये थे। धार्मिक जनसाधारण का एक बड़ा अल्पमत अब नशा-निषेध के बारे में अरस्तू की तरह यह मानने को तैयार है कि हमें पियक्कड़ तो नहीं बन जाना चाहिए, पर साथ ही अच्छी तरह खाने-पीने में कोई नुकसान भी नहीं है। लेकिन बहुमत की धारणा अब भी यही है कि न केवल शराब पीने की आदत अपितु शराब को ही पूरी तरह खत्म कर देने से ही नैतिक आदर्श की प्राप्ति हो सकेगी। इस बीच बहुत से धार्मिक नेता 'ऐलकोहलिक ऐनोनिमस' जैसे दलों के अर्ध-धार्मिक तरीकों का भी अध्ययन कर रहे हैं और धार्मिक संगतियों को अधिक आकर्षक बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। कुछ भी हो, राष्ट्रीय नशाबंदी की असफलता ने धार्मिक नेताओं को बाध्य कर दिया है कि वे मर्यादा लाने के और अधिक मर्यादित उपायों पर विचार करें।

विश्वशांति स्थापित करने के प्रयत्नों के परिणाम से भी कुछ ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है, हालाँकि वह पेचीदा कुछ ज्यादा है। युद्ध-विरोधी दो प्रयत्न तो बहुत पुराने हैं और इन्होंने इस शताब्दी में भी महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है। उनमें से एक है हिंसा के कार्यों का अंतरात्मा की आवाज़

पर विरोध और दूसरा है शांतिपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को बढ़ावा देने के लिए बनायी गई विभिन्न चर्चों की सभाएँ। पिछले दो दशकों तक, अंतरात्मा की आवाज़ पर विरोध करने वाले आमतौर उन धार्मिक संस्थाओं तक सीमित थे जिन्होंने शस्त्र न धारण करने का व्रत अपने धार्मिक कर्त्तव्य का अभिन्न अंग बना लिया है। अमरीका में इनमें से कुछ प्रमुख संस्थाएँ निम्नलिखित हैं: 'दि सोसायटी ऑफ फ्रेंडस', 'दि मोरेवियंस', 'दि मैननाइट्स' 'दि ड्रंकर्स एंड श्वैंक फैल्डर्स', 'जेहोवाज़ विटनेसिज़ (रसैलाइट मिलिएनियलिस्ट्स)'। महात्मा गांधी के व्यक्तिगत प्रभाव के साथ वेदांत मिशन ने भी अहिंसा और आत्मिक शक्ति में विश्वास दृढ़ किया है, हालाँकि यह कुछ अजीब बात है कि थियोसोफिस्ट लोगों में ऐसा नहीं हुआ।

प्रथम महायुद्ध में अंतरात्मा की आवाज़ पर विरोध करने वाले इन लोगों को कुछ कानूनी संरक्षण दिया गया, लेकिन जब यह पता चला कि इनमें से कुछ संस्थाओं के अधिकांश सदस्य जर्मन हैं तो लोग इनके खिलाफ़ भड़क उठे। अंतरात्मा की आवाज़ पर विरोध करने वाले ऐसे लोगों पर तो कोई ध्यान ही नहीं दिया गया जो किसी संगठन के सदस्य नहीं थे, किन्तु अपने व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों के आधार पर युद्ध का विरोध कर रहे थे। लेकिन युद्ध के बाद, विशेषकर जब इस बात का खूब प्रचार किया गया कि किस प्रकार शस्त्र-निर्माताओं के गुट युद्ध करवाना चाहते हैं, तो धार्मिक शांतिवाद का व्यापक प्रसार हुआ। परिणामस्वरूप सभी चर्चों में अंतरात्मा की आवाज़ पर विरोध करने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत बढ़ गई। बहुत-सी अग्रणी चर्च-संस्थाओं ने आम तौर से युद्ध को एक पाप बताकर उसकी निंदा की। जब अमरीका द्वितीय महायुद्ध में शामिल हुआ तो सरकार को अंतरात्मा की आवाज़ पर विरोध करनेवालों के साथ कहीं ज्यादा उदार बर्ताव करना पड़ा। १९४० के 'सेलेक्टिव सर्विस एक्ट' में चर्च की सदस्यता का आवश्यक होना हटा दिया गया और "धार्मिक शिक्षा और विश्वास के कारण" "किसी भी रूप में

युद्ध में भाग लेने" का विरोध करने वाले व्यक्तियों का भी संमान किया जाने लगा। नागरिक सार्वजनिक सेवा-शिविरों के सात हजार शांतिवादियों में से दो-तिहाई का ही ऐतिहासिक 'शांति चर्चों' से संबंध था। वास्तव में मध्य पश्चिम में क्वेकर लोगों की संख्या में कमी होने का एक बड़ा कारण यह भी था कि मेथोडिस्ट और प्रोटेस्टेंट चर्चों में भी अब शांतिवाद का प्रचार होता जा रहा था। नागरिक शिविरों में ८ प्रतिशत मेथोडिस्ट थे, ३ प्रतिशत जेहोवाज़ विटनेस, और ६ प्रतिशत अन्य किन्हीं चर्चों से संबंध रखने वाले थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि क्वेकर लोग युद्ध के प्रयत्नों में अपेक्षाकृत सहयोग करने को तैयार थे। उनमें से ज्यादातर नागरिक सेवाओं में काम करना चाहते थे लेकिन कुछ शस्त्र उठाने को भी तैयार थे। पर सबसे अधिक प्रभावशाली थे कुछ पादरी, जिन्होंने सोच लिया था कि वे कभी युद्ध को 'आशीर्वाद' नहीं देंगें, और जो संघर्ष के अंत तक अपनी स्थिति पर कायम रहे।

अमरीकी प्रोटेस्टेंटों की एक पूरी पीढ़ी के लिए युद्ध पापपूर्ण है या नहीं; यह बात एक व्यक्तिगत नैतिक समस्या बन गई। कैथोलिक और यहूदियों के लिए तो इसमें नैतिक संघर्ष की कोई बात थी ही नहीं, क्योंकि उनमें से बहुत ही कम लोग शांतिवादी थे। अमरीकी कैथोलिक नेताओं ने युद्ध के प्रयत्नों का यहाँ तक कि स्पेनिश-अमेरिकन युद्ध में भी साथ दिया है। अमरीकी यहूदी पहले महायुद्ध में ऐसे अमरीकी नागरिकों के तौर पर लड़े जिनके लिए प्रजातंत्र एक धार्मिक परम्परा था, और दूसरे महायुद्ध में वे अमरीकी और यहूदियों के तौर पर लड़े जिनके लिए हिटलर के आतंक समाप्त करना एक विशेष कर्त्तव्य था। उन प्रोटेस्टेंट अंतरात्माओं में जिन्होंने एक ईसाई शांतिपूर्ण निरपेक्षवाद का समन्वय प्रजातंत्रीय नागरिक नैतिकता से करने का प्रयत्न किया है एक तीव्र नैतिक संघर्ष बढ़ता हुआ दिखाई दे रहा है। प्रथम महायुद्ध में बहुत-से पादरियों ने अपने प्रेस्बिटेरियन प्रेज़िडेंट वुडरो विल्सन के अनुसार "संसार को प्रजातंत्र के लिए सुरक्षित बनाने" के उस प्रयत्न को एक पवित्र कार्य और

नैतिक अभियान माना था; लेकिन उस संघर्ष में सफलता न मिलने से प्रोटेस्टेंट लोगों में बहुत अपमान और पश्चात्ताप की भावना फैली। 'युद्धतंत्र' के विरुद्ध इस वैमनस्य की पराकाष्ठा १९३० में आयी जब एक अंतर्राष्ट्रीय शस्त्रास्त्र गिरोह के भंडाफोड़ होने का सीधा परिणाम यह हुआ कि अमरीकी मध्यस्थता के लिए विधान नियम बनाना पड़ा। अब तो वे लोग युद्ध को कभी भी पवित्र नहीं मानेंगे। लेकिन तो भी द्वितीय महा-युद्ध को अधिकांश प्रोटेस्टेंट लोगों ने (थोड़े संघर्ष के बाद) एक पवित्र कर्त्तव्य मान ही लिया। १९४१ के ग्रीष्मकाल में न्यूयार्क के एंग्लो कैथो-लिक बिशप मैनिंग ने बड़ी गंभीरता से कहा, "एक अमरीकी, एक ईसाई और एक ईसाई चर्च के बिशप की हैसियत से बोलते हुए, मैं कहता हूँ कि एक जाति के तौर पर इस संघर्ष में भाग लेना हमारा कर्त्तव्य है।" लेकिन तब बहुत ही कम लोग उससे सहमत होने को तैयार थे। ऐपिस्कोपे-लियन लोगों को भी ऐसा कथन धक्का पहुँचाने वाला था, और बहुत से प्रोटेस्टेंट लोगों ने तो इसे धर्म-निंदक बात माना। पर साल-दो-साल बाद ही अधिकांश उसके साथ सहमत हो गए। केवल कुछ ने ही आंतरिक संघर्ष जारी रखा जिनमें से एक 'क्रिश्चियन सेंच्वरी' का शांतिवादी सम्पादक क्लेटन डब्ल्यू मौरिसन भी था। पर्लहार्बर के बाद उसने लिखा "हमारा देश युद्ध में लगा है। इसका जीवन दाँव पर है।. . .यह हमारी आवश्यकता है . . एक अनावश्यक आवश्यकता, इसलिए एक अपराध-पूर्ण आवश्यकता। हमारा संघर्ष, यद्यपि आवश्यक है, पवित्र नहीं है। ईश्वर हमें लड़ने का आदेश नहीं देता। उसके द्वारा दिया जाने वाला दंड हमने अपने ही हाथों लिखा है; और वह यह है कि हम अपने भाइयों को काटें और उनसे काटे जायँ। हमारा विश्वास है कि यह दंड बिल्कुल नरक के समान है।" पर बहुमत तो ज्यादा आत्म-तुष्टि से 'लिविंग चर्च' के सम्पादक के साथ यह प्रार्थना कर रहा था, "हम सदा यही चाहें कि ईश्वर हमारे पक्ष में न हो, अपितु हम ईश्वर के पक्ष में हों, ताकि अंत में विजय उसी की हो।" यह प्रार्थना ईसाइयों के बीच पारम्परिक है। लेकिन

इस पर धर्म-निरपेक्ष आचार-शास्त्री केवल मुस्कराकर ही रह जायेंगे।

जहाँ तक शांति स्थापित करने के लिए संगठित योजना बनाने का प्रश्न है, उन्नीसवीं सदी में इस काम में पहल संगठित धर्म-संस्थाओं के बजाय धर्म-निरपेक्ष मानवतावादियों ने ही की। कुछ प्रोटेस्टेंट लोगों ने भी, जिनमें से ज्यादातर वामपक्षी थे, इनके साथ सहयोग किया। लेकिन बीसवीं सदी में शांति-सभाओं में और 'न्यायपूर्ण तथा स्थायी' आधार पर अंतर्राष्ट्रीय समझौते कराने में चर्च ज्यादा और ज्यादा रुचि लेने लगे। उन्होंने 'लीग ऑफ नेशंस' का उत्साह से साथ दिया, और १९४२ में ओहियो में उन्होंने 'न्यायपूर्ण तथा स्थायी शांति के आधार' पर एक प्रभावशाली वक्तव्य तैयार किया, जो वास्तव में संयुक्तराष्ट्र संघ की स्थापना के लिए एक कदम था। 'मनुष्य के अधिकारों की घोषणा' को बढ़ावा देने में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट लोगों ने यहूदियों का साथ दिया है। आम तौर पर इस देश की धार्मिक शक्तियाँ राजनीति और युद्ध और शांति की समस्या में अधिकाधिक रुचि ले रही हैं, शांति तथा युद्ध के साधनों के लिए भी वे यथार्थवादी योजनाएँ बनाने में धर्म-निरपेक्ष संस्थाओं के साथ सहयोग कर रही हैं, चाहे धर्म-शास्त्र की दृष्टि से वे इन व्यावहारिक नीतियों के साथ मेल बैठा पायें या नहीं।

इधर प्रोटेस्टेंटों का ध्यान तो नशाबंदी और शांति की नैतिक समस्या पर रहा है, उधर कैथोलिकों का ध्यान सैक्स की नैतिकता, 'सार्वजनिक मर्यादा' और 'परिवार की सुरक्षा' पर गया है। सार्वजनिक मर्यादा आंदोलन थियेटर तथा सिनेमा पर निगाह रखता है। इसी आंदोलन के परिणामस्वरूप १९३४ में 'नेशनल लीजन ऑफ डिसेंसी' की स्थापना हुई। स्थानीय राजनैतिक दबाव तथा हॉलीवुड के स्थायी सेंसरशिप द्वारा कैथोलिक चर्च स्टेज और पर्दे पर भद्दी अश्लीलता तो रुकवा ही देता है, साथ-ही-साथ, जहाँ तक हो सके, ऐसे चर्च-विरोधी नाटक आदि भी नहीं होने देता जिनसे लोगों की धार्मिक भावनाओं को ठेस लग सकती हो। उदाहरण के लिए न केवल स्टेज और सिनेमा में अपितु साहित्य

और पत्रकारिता में भी धर्म-निंदा को बुरा माना जाता है। यहाँ तक कि दार्शनिक नास्तिकता और राजनैतिक नास्तिकता की भी निंदा इस आधार पर की जाती है कि धर्म को सार्वजनिक सुरक्षा मिलनी चाहिए। उनकी दृष्टि से धर्म-निरपेक्षवाद अनैतिक तथा अधार्मिक है। अधिकांश ईसाइयों और यहूदियों का यह विश्वास है कि नैतिकता को धार्मिक समर्थन की आवश्यकता है, यद्यपि कुछ यहूदी और मानवतावादी ऐसा नहीं मानते। ऐसे ही आधारपर कैथोलिक अधिकारी सार्वजनिक पुस्तकालयों और स्कूलों से कैथोलिक विरोधी पुस्तकें हटवाने का औचित्य सिद्ध करते हैं। उनमें से कुछ कम-से-कम सिद्धांत रूप में, 'झूठे' धर्म के सेंसर किये जाने को सार्वजनिक सेवा मानेंगे वैसे ही जैसे कि कुछ प्रोटेस्टेंट मानते हैं कि कैथोलिक चर्च एक सार्वजनिक खतरा है। दूसरी ओर यहूदी धर्म-निरपेक्ष या सार्वजनिक रूप से शामीवाद (सेमिटिज्म) के विरोध को धार्मिक रूप से सताना मानकर उसकी निंदा करते हैं। लेकिन आमतौर पर छोटे धर्म जब एक-दूसरे को बुरा-भला कहते हैं तो ऐसा वे धार्मिक आधार पर ही करते हैं न कि सार्वजनिक मर्यादा के। उदाहरण के लिए, 'दि पब्लिकेशन कमिटी ऑफ क्रिश्चियन साइंस' जो इस प्रकार के साहित्य पर सतर्क निगाह रखती है तथा निजी रूप से सेंसर भी करती है, इस बात को खुले तौर पर मानती है कि ऐसा वह 'क्रिश्चियन साइंस' के ग़लत ढंग से पेश किये जाने को रोकने के लिए करती है। लेकिन कोई विश्वास जितना शक्तिशाली होता जाता है उतना ही वह अपने आपको सार्वजनिक कल्याण के साथ एक समझने लगता है। इसलिए बड़े-बड़े ईसाई चर्च एक गंभीर और कठिन नैतिक स्थिति में हैं। स्पष्ट ही वे सामाजिक सेवा के बहुत से काम कर रहे हैं और उन्हें आम जनता का समर्थन भी प्राप्त है, इसलिए स्वभावतः वे समझने लगते हैं कि वे अनिवार्य हैं। और क्योंकि उन्हें कोई व्यक्तिगत हित के लिए बनायी गई संस्था सिद्ध नहीं कर सकता, वे अपने कल्याण और सार्वजनिक व्यवस्था तथा सुरुचि को एक समझने लगते हैं। यह एक मानवीय कमज़ोरी है और

केवल अति प्राकृतिक कृपा से ही दूर की जा सकती है। लेकिन इसने यह आवश्यक कर दिया है कि समसामयिक नैतिकता के लिए धार्मिक विश्वास और सार्वजनिक सुरुचि के पारस्परिक संबंध को ज्यादा स्पष्ट तौर से समझा जाय। न तो कट्टर एकीकरण और न ही कट्टर अलगाव पर आज उतना विश्वास होता है जितना पहले हुआ करता था।

इसी प्रकार सेक्सीय नैतिकता, संतति नियमन, और तलाक के मामलों ने यह सवाल उठा दिया है कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की चिकित्सा संबंधी समस्याओं और परम्परागत रूप से धर्म से संबद्ध नैतिक समस्याओं में क्या संबंध होना चाहिए। कैथोलिक स्थिति तो इस बारे में कट्टर है और स्पष्ट है : किसी भी नैतिक मसले के हल के लिए धार्मिक स्वीकृति की आवश्यकता है। क्योंकि चर्च अधिकृतरूप से यह मानता है कि आवेश (विशेषकर विलास), विवाह और संतति-उत्पादन की समस्याएँ नैतिक समस्याएँ हैं, इसलिए यह समय-समय पर 'अंतरात्मा के मामलों' के मार्ग-दर्शन के लिए अधिकृत घोषणाएँ करता रहता है। १९५१ में जब पोप ने कुछ चिकित्सा संबंधी निर्णयों, विशेषकर शिशु-जन्म के कुछ कठिन मामलों के बारे में घोषणा की तो उस पर अमरीका में व्यापक विचार-विनिमय और टीका-टिप्पणी हुई।

१९४३ में कैथोलिक लोगों ने फ्रांस के अनुकरण पर 'कैना कान्फ्रेंस मूवमेंट' नामक आंदोलन चलाया जिसमें नव विवाहित दंपतियों के साथ विवाह और पितृत्व की समस्याओं पर विचार-विनिमय करने के लिए सभाएँ आयोजित की जाती थीं। इन दंपतियों को दी जाने वाली सलाह का सार अधिकृत रूप से इस प्रकार बताया गया है : "हमारे आंदोलन की संरक्षिका 'ब्लैसिड मेरी' ने कैना के विवाह के अवसर पर कहा था 'वह करो जो ईश्वर तुम्हें करने के लिए कहे'; इसी के अनुसार यह आंदोलन विवाहित व्यक्तियों के सामने सृष्टि के रचयिता का यह भाव रखता है कि उसने पुरुष और स्त्री का निर्माण करके वृद्धि करने के लिए कहा है।"

रूढ़िवादी यहूदी धर्म और फंडामेंटलिस्ट ईसाइयत में नैतिक अधिकार का भाव इतना स्पष्ट नहीं किया गया है। उदारवादी प्रोटेस्टेंटों और यहूदियों को लचकीलेपन के लाभ तथा हानियाँ दोनों ही प्राप्त हैं। कहीं तो वे समझदारी के विचार से रूढ़िवादी बन जाते हैं; और जब वे जनसाधारण को बुद्धिमानी से कोई रास्ता दिखाना चाहते हैं तो उनके पादरी दूसरे व्यावसायिक सलाहकारों की राय मानने लगते हैं। इसके अनुसार चिकित्सा-व्यवसाय के लोग जिसे समझदारी की बात मानते हैं उसे ये पादरी 'सही और नैतिक' मानकर आशीर्वाद देते हैं। इन प्रोटेस्टेंट और उदार धार्मिक क्षेत्रों में चिकित्सक की नैतिक सलाह और धार्मिक नैतिक नुस्खे के बीच अपेक्षाकृत कम संघर्ष हुआ है; जबकि मानवतावादियों और सुधारवादी यहूदियों की आचरण संबंधी सांस्कृतिक सभाओं में यह प्रयत्न रहा है कि वे चिकित्सा-व्यवसाय के साथ-साथ चल सकें।

इन सब परिवर्तनों का परिणाम यह निकला है कि चिकित्सा–व्यवसाय, विशेषकर मनोविश्लेषक, और पादरियों के व्यवसाय अपनी सामान्य समस्याओं के कारण पास-पास आ गये हैं। चिकित्सा-व्यवसाय के लोग अब नैतिक मूल्यों के बारे में विचार-विनिमय करने को और विशेष धार्मिक अनुशासनों के चिकित्सा संबंधी मूल्य को स्वीकार करने के लिए अधिक इच्छुक हैं। दूसरी ओर पादरी भी धर्म-निरपेक्ष मनोविश्लेषण के तत्वों को समझने और उसके ज्ञान का उपयोग खुले या छिपे तौर पर, अपने पास आये व्यक्तियों को सलाह देने में करने के लिए अधिक उत्सुक हैं। नैतिक समस्याओं के ये दोनों दृष्टिकोण अब पास-पास आ गए हैं और अब धीमे-धीमे, चाहे अस्पष्ट रूप से ही सही, यह माना जाने लगा है कि पाप और मुक्ति की यदि सभी नहीं तो अधिकांश समस्याएँ स्वास्थ्य की समस्याएँ भी हैं। 'मुक्ति' का भाव भी अब उतना ही अस्पष्ट हो गया है जितना कि 'मानसिक स्वास्थ्य' या 'सामाजिक स्वास्थ्य' का; और आज ये सभी भाव नैतिक मूल्यों और आचार-शास्त्र के साथ इतने निकट रूप से जुड़े

हुए हैं जितना कि पादरी लोग या मनोविश्लेषक भूतकाल में मानने को तैयार नहीं थे ।

बड़ी नैतिक समस्याओं में से जिसे अभी हाल में धार्मिक समुदायों में गंभीरता से लिया गया है वह है अंतर्जातीय संबंधों की समस्या, और खासकर नीग्रो चर्च और चर्चों में आने वाले नीग्रो लोगों की समस्या । १९२० में फेडरल कौंसिल ने नीग्रो लोगों के लिए 'कानूनी न्याय' और 'क्रियात्मक भ्रातृत्व' के कार्यक्रम का प्रस्ताव किया था; इसने जातीय उच्चता के विचार को बुरा बताया, और धीरे-धीरे अपने कार्यक्रम में 'लिंचिग' और जातियों में विभेद करने के विरुद्ध कानून बनवाना भी शामिल कर लिया ।

बड़े प्रोटेस्टेंट सम्प्रदायों (विशेषकर मेथडिस्ट और बैप्टिस्ट) के लिए जो कि उत्तरी तथा दक्षिणी शाखाओं में अधिक निकट के संबंध बनाना चाहते थे जाति की समस्या बहुत परेशानी में डालने वाली थी, और रोमन कैथोलिक भी इस समस्या का जल्दी ही सामना नहीं कर पाये थे । लेकिन जल्दी या देर से सभी धार्मिक संस्थाओं को इसका सामना करना ही पड़ा । १९३४ में न्यूयार्क शहर में इस स्थिति का सामना करने के लिए 'दि कैथोलिक इंटररेशल कौंसिल' और 'सेंटर ऑफ न्यूयार्क' की स्थापना हुई । अपने प्रकाशन 'दी इंटररेशल रिव्यू' के द्वारा इसका प्रभाव काफी व्यापक हुआ है । प्रोटेस्टेंट लोगों ने वर्ण-भेद हटाने में प्रयोग के तौर पर अनेक 'अंतर्जातीय धार्मिक भ्रातृमंडलों' की स्थापना की है । नीग्रो लोगों की दशा में जाति-समस्या भिन्न है, और यह जातीय पक्षपात की समस्या से ज्यादा पेचीदा है, क्योंकि एक शताब्दी के दौरान में नीग्रो चर्चों ने अपने ही प्रकार की पूजा और आत्मिकता का इतना विकास कर लिया है कि उन्हें अपनी धार्मिक सेवा पर गर्व तथा संतोष का अनुभव होता है, और अब आम तौर पर यह माना जाता है कि उन्होंने संसार के आध्यात्मिक जीवन में और खास कर अमरीकी संस्कृति में अपना योग-दान दिया है । इसलिए यह बात महत्त्व की है कि जाति-विभेद खत्म करने

के जल्दबाजी के तरीकों द्वारा इस सच्चे रचनात्मक काम को नुकसान न पहुँचाया जाय। कृत्रिम विभेद और कृत्रिम एकता दोनों से ही बचना चाहिए। तो भी यह संभव है, जैसा कि हाल के प्रयोगों और प्रवृत्तियों से पता चलता है, कि नीग्रो चर्चों के धार्मिक मूल्य को कम किये बिना अन्तर्जातीय सामाजिक बंधनों को तोड़ा जा सके। इस संबंध में हमारा ध्यान जातिभद पर काबू पाने के लिए उत्तर और दक्षिण में युवकों द्वारा दिये गए नतृत्व की ओर जाता है। मनोवृत्ति में क्रांतिकारी-सा परिवर्तन आ गया है, लेकिन यह कहना कठिन है कि इसमें से कितना धार्मिक प्रेरणा के कारण है। तो भी यह निश्चित है कि धार्मिक युवक संगठनों ने ठोस काम किया है। पूर्वीय जातियों के साथ संबंधों का धार्मिक पहलू भिन्न प्रकार का है और पूर्व के साथ अंतर्धार्मिक भ्रातृत्व स्थापित करने में विशेष प्रगति नहीं हुई है। तो भी दूसरे महायुद्ध के दौरान में और उसके बाद विस्थापित जापानियों की चर्चों ने जिस ढंग से हिफाजत तथा परवाह की है उसके लिए उन्हें श्रेय दिया ही जाना चाहिए।

सामाजिक संदेश

अमरीकी धर्म में सबसे अधिक दूर व्यापी और प्रकट रूप से स्थायी नैतिक पुर्ननिर्माण तथा कथित 'सामाजिक संदेश' के रूप में हुआ है। कैथोलिकवाद, यहूदी धर्म और प्रोटेस्टेंटवाद के प्रभावशाली वर्गों तथा चर्चों में इसका बहुत असर है। यह सामाजिक आचार-शास्त्र के आधार पर धर्म के पुर्ननिर्माण करने की प्रक्रिया की चरम परिणति का प्रतिनिधित्व करता है जिसका दिग्दर्शन हम करते रहे हैं और जिसे पूरे औचित्य के साथ 'आज की धार्मिक क्रांति' कहा जा सकता है। इसका मुख्य भाव यह है कि मनुष्य जाति का सामूहिक रूप से उद्धार या मोक्ष और सामाजिक व्यवस्था का पुर्ननिर्माण धर्म का अंतिम लक्ष्य है। इस संदेश के, जो कि यूरोपियन समाजवाद जितना ही पुराना है, कई उग्र रूपों का प्रचार अमरीका में उन्नीसवीं शताब्दी में हो चुका है। इनमें धर्मशास्त्र की दृष्टि

से सब से अधिक उग्र शायद बड़े हेनरी जेम्स का सिद्धांत था, जो कहता था कि जैसे आदम में व्यक्तिगत रूप से सारे मनुष्यों का ईश्वर से पतन हुआ है, इसी प्रकार दिव्य मानवजाति में सब मनुष्यों का उद्धार सामूहिक रूप से होगा ।

इस शताब्दी के पहले चौथाई भाग में इस सामाजिक संदेश का शिक्षण और प्रचार चर्चों और शिक्षालयों में अल्प मत के द्वारा ही किया जाता था, और जन साधारण के बजाय पादरी लोग इसमें कहीं अधिक उत्साह दिखाते थे । और हालाँकि इस शताब्दी के पहले दशक में सामाजिक सेवा के लिए केन्द्रीय मंडल स्थापित करने में एक चर्च की दूसरे चर्च के साथ प्रतिस्पर्धा होती थी, इन मंडलों की गति-विधियों और घोषणाओं के प्रति स्थानीय चर्चों और पादरियों के बहुमत ने कोई ज्यादा उत्सुकता नहीं दिखायी । यद्यपि यूरोपियन कैथोलिकों के बीच पोपलयो का एक सामाजिक संदेश लम्बे समय से सामाजिक कार्य का आधार रहा था, अमरीकी पादरियों ने इस पर तब तक कोई ध्यान नहीं दिया जब तक कि अमरीकी बिशपों ने १९१९ में ऐसा करने के लिए नहीं कहा, और तब भी दस साल बाद तक इसके बारे में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई ।

'मुक्ति' के व्यक्तिवादी और पारलौकिक विचार पर पहली चोट वैयक्तिक सद्भाव को अपील करने के द्वारा तथा अपनी ही मुक्ति के बारे में चिन्ता करने को आध्यात्मिक स्वार्थ बताने के द्वारा की गई । बीसवीं सदी के प्रारंभिक भाग के स्वभाव की यह विशेषता थी कि उसमें अपने बजाय औरों की अधिक चिंता की जाती थी । इसलिए आम तौर से यह माना जाने लगा कि भलाई करना ही ईश्वर को प्यार करने का रास्ता है। वाई० एम० सी० ए०, वाई०, डब्ल्यू० सी० ए० तथा अन्य युवक संगठनों के केन्द्र में यही सिद्धांत काम कर रहा था । व्यक्तिवाद के गढ़ प्रिंसटन प्रेसीबीटेरियंस के बीच भी नैतिक वातावरण में परिवर्तन दिखाई देने लगा था । उदाहरण के लिए १९०९ में धर्म-शास्त्र के विद्यार्थियों के सामने एक प्रभावशाली साधारण व्यक्ति की तरह बोलते हुए

वुड रो विल्सन ने कहा था :

जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मुझे तो व्यक्तिवाद के सच्चे आधार के अलावा चर्च या समाज में भविष्य की कोई उज्ज्वल झलक नहीं दिखाई देती। पादरी को चाहिए कि वह ईसाइयत का उपदेश मनुष्यों को करे न कि समाज को। उसे मुक्ति का उपदेश व्यक्ति को करना चाहिए क्योंकि हम एक-एक करके ही प्यार कर सकते हैं, और प्यार ही जीवन का नियम है।

लेकिन १९१४ में अपनी राजनैतिक 'नयी स्वतंत्रता' के साथ उसने एक सामाजिक संदेश को भी कुछ सावधानी से स्वीकार कर लिया। 'शक्तिशाली ईसाइयत' पर वाई० एम० सी० ए० के सामने बोलते हुए उसने कहा :

जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैं ईसाइयत के बारे में इस रूप में नहीं सोचता कि वह वैयक्तिक आत्माओं के उद्धार करने का साधन है। ईसा इस संसार में औरों को बचाने के लिए आया था न कि अपने आप को; और कोई आदमी तब तक सच्चा ईसाई नहीं हो सकता जब तक कि वह लगातार यह न सोचे कि कैसे वह अपने भाई को ऊपर उठा सकता है, कैसे वह मनुष्यजाति को प्रकाश दे सकता है; कैसे वह उस क्षेत्र में जिसमें कि वह रहता है पुण्य को सद्व्यवहार का नियम बना सकता है।

लेकिन जितनी कि विल्सन ने कल्पना भी नहीं की थी, ईसाई सामाजिक संदेश जल्दी ही उससे भी आगे चला गया। १९०७ में प्रो० वाल्टर, रोशेनबुश, ने जो कि उस समय न्यूयार्क में 'बैप्टिस्ट सेमिनरी ऑफ़ रोचेस्टर' में और पहले न्यूयार्क शहर में क्रियात्मक सामाजिक कार्य में लगे रहे थे, अपनी पुस्तक 'क्रिश्चियैनिटी एंड दि सोशल क्राइसिस' प्रकाशित की। इस पुस्तक ने प्रोटेस्टेंट लोगों के बीच संदेश के सामाजिक रूप के प्रति धार्मिक कल्पना और भावना को उभाड़ दिया। सामाजिक सुधार के कार्यक्रम को संकट की भाषा में बताकर और उसे "ईश्वर के राज्य को पृथ्वी पर लाने" का रूप देने के द्वारा उसने धर्मोपदेश के पारम्परिक विषय को एक नया और व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। इस

संदेश ने शीघ्र ही सब जगह सुधार के लिए जोश पैदा कर दिया। प्रो० रोशेन बुश के समान ही अन्य प्रोटेस्टेंट धार्मिक नेता भी हुए जिन्होंने सामाजिक संदेश को अधिक यथार्थवादी तथा उग्र समाज-शास्त्री रूप दिया तथा इससे बुर्जुआ उदारवाद की झलक मिटाने की कोशिश की। ऐसे नेताओं के प्रयत्न से न केवल बड़े चर्चों के केन्द्रीय प्रशासनिक बोर्ड तथा संस्थाएँ लेकिन छोटे बड़े पादरी भी "सामाजिक व्यवस्था को ईसाइयत पर लाने" के काम में सक्रिय रूप से लगा दिये गए।

१८८५ के 'पिट्सबरा प्लेटफार्म' में सुधारवादी रबियों ने कुछ संकोच के साथ घोषणा की कि "हमारा कर्त्तव्य समाज के वर्तमान संगठन की विषमता और बुराइयों से उत्पन्न समस्याओं को न्याय और पवित्रता के आधार पर हल करने के महान कार्य में भाग लेना है।"

लेकिन उसके बाद से तो अमरीकी यहूदी धर्म की तीनों शाखाओं ने सामाजिक न्याय के बारे में जोरदार घोषणाएँ की हैं।

१९१९ से कैथोलिक भी सामाजिक पुनर्निर्माण के काम में पूरी तरह जुट गए। १९२० में 'दि नेशनल कैथोलिक वेलफेयर कान्फ्रेंस' का संगठन किया गया जो इस समय देश में धार्मिक सामाजिक कार्य की सब से शक्तिशाली और केंद्रीय रूप से संगठित संस्था है। इसके आठ मुख्य विभाग हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे हैं। औद्योगिक सम्बन्धों के क्षेत्र में, जहाँ कि कैथोलिकों की शक्ति विशेष रूप से रही है, कैथोलिक श्रमिक आंदोलन १९३३ से चलता आ रहा है। यह 'दि कैथोलिक वर्कर' के नाम से एक पत्रिका भी निकालता है जिसकी ६५,००० प्रतियाँ छपती हैं।

१९४६ में प्रोटेस्टेंट, यहूदी और कैथोलिक संमिलित रूप से 'आर्थिक न्याय की घोषणा' करने में सफल हो सके। इस घोषणा का प्रभाव इन दलों द्वारा उन्नीसवीं सदी में किये गए सभी कार्यों से ज्यादा हुआ। इसी बीच (डॉ० फैलिक्स एडलर की प्रेरणा से) न्यूयार्क तथा अन्य शहरों में 'आचारीय सांस्कृतिक सभाएँ' बनने लगीं जिनमें विभिन्न

धर्मों के या किसी भी धर्म को न मानने वाले ऐसे व्यक्ति एकत्र होने लगे जो धार्मिक तथा व्यावहारिक रूप से एक सामाजिक आचार को बढ़ावा देना चाहते थे। इन सभाओं ने उदार अमरीकी मतों में सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम के आगे धार्मिक मतभेदों को दबा देने की प्रवृत्ति को और उग्र रूप दिया। ईसाई समाजवादियों की तरह उन्होंने भी इस सिद्धांत पर ज़ोर दिया कि एक सामाजिक व्यवस्था के बारे में निर्णय किसी अवैयक्तिक परख की बजाय इस बात से करना चाहिए कि वह व्यवस्था कैसे मनुष्य पैदा करती है।

आर्थिक मसलों पर धार्मिक विचार और कार्य ने क्या रुख अपनाया है यह बताना आसान नहीं है क्योंकि इसमें उतनी ही विभिन्नता है जितनी धर्म-निरपेक्ष विचार और क्रिया में। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि धर्म-निरपेक्ष अंतरात्मा का प्रतबिंब चर्चों पर भी पड़ा है; यद्यपि इस बारे में न तो वे पूरी तरह नेता ही रहे हैं और न अनुयायी ही। चर्च समझने लगते हैं कि सामाजिक न्याय के मामलों में वे मनुष्यों के सामाजिक नेता हैं; जबकि चर्च विरोधी व्यक्ति सोचते हैं कि चर्च लाइलाज रूप से रूढ़िवादी हैं। चरम सीमा के इन दोनों ही सामान्यीकरणों में से कोई भी सही नहीं है। हालाँकि सामाजिक सुधार के नेताओं के बीच कुछ पादरी या धर्म से प्रेरित व्यक्ति हमेशा रहे हैं, चर्चों का मुख्य कार्य सदा न सुधरे हुए लोगों के प्रवक्ता के रूप में रहा है। एक औसत अमरीकी के सही और ग़लत के भाव को यदि किसी ने धर्म-निरपेक्ष पत्रकारिता और थियेटर से, सामाजिक विज्ञान के प्रोफेसरों से और और राजनैतिक दलों के आंदोलनों से बढ़कर संवेगी शक्ति दी है तो वे धार्मिक संस्थाओं की वेदियाँ और प्रेस ही हैं। सुधार लाने में चाहे उनका ज्यादा हाथ न हो, लेकिन वे सुधार की आवश्यकता को बहुत प्रभावपूर्ण ढंग से सामने रखते हैं।

सामाजिक संदेश के प्रारंभिक दिनों में पूंजीवाद और लाभ के लिए उद्देश्य से ही उद्योग चलाने की प्रवृत्ति की निन्दा पर बल दिया जाता था।

उद्देश्य यह था कि अंतर्वैयक्तिक सहयोग, मानवीय संमान और भ्रातृत्व तथा पारस्परिक सेवा की भावना को अपील करने के द्वारा आर्थिक व्यवस्था को मानवीय बनाया जाय। लालच को एक बहुत बड़ी बुराई बताया गया। मानवीय भ्रातृत्व की स्थापना इस संदेश का केन्द्रीय सिद्धांत था। वर्ग-भेद की चेतना को छुआ नहीं गया था; उल्टा वर्गों का विचार ही धार्मिक आदर्शों को अप्रिय था। यहाँ तक कि अमरीकी समाजवाद की धर्म-निरपेक्ष शक्तियों को भी वर्ग-अपील की अप्रियता और मार्क्सवादी विश्लेषण के विदेशीपन को ध्यान में रखना पड़ता था। ईसाइयों और यहूदियों के बीच सामाजिक न्याय के आदर्शों की कल्पना कानून के अवैयक्तिक रूप में नहीं अपितु व्यक्तिगत अधिकार और आवश्यकताओं के रूप में की गयी थी। इसलिए सामाजिक सुधार के कार्यक्रम को सरकार पर उतना आधारित नहीं किया गया जितना कि मालिकों और कर्मचारियों के बीच श्रमिक के कल्याण की भावना के विकास पर। इसी प्रकार व्यापार और श्रम-संघों का समर्थन सामूहिक रूप से सौदा करने वाली और और वर्ग संघर्ष बढ़ानेवाली संस्थाओं के रूप में नहीं अपितु रक्षा और भलाई करने वाली संस्थाओं के रूप में किया गया। रोशेन-बुश ने भी, जो उन्नीसवीं सदी के यूरोपियन सुधारवादियों की अपेक्षा कम आशावादी था 'ईश्वर के राज्य' की कल्पना मानवीय प्रेरकों में एक क्रांति लाने के रूप में की थी। १९०७ में उसने लिखा :

यदि किसी ऐसी व्यवस्था का आविष्कार करना हो जिसके द्वारा मानवीय समाज में लालचीपन को जान-बूझकर बढ़ावा मिल सके तो हमारी अपनी व्यवस्था से बढ़कर और कौन-सी ऐसी व्यवस्था होगी ? प्रति-स्पर्धा वाले वाणिज्य ने स्वार्थ को ऊँचा उठाकर उसे एक नैतिक सिद्धांत का दर्जा दे दिया है। यह उन मनुष्यों को भी बहुत कठोर बना देता है जो अन्यथा बड़े नम्र तथा दयालु मित्र और पड़ोसी हैं।

चर्च को चाहिए कि वह प्रतिस्पर्धा वाले और साम्यवादी सिद्धांतों के नैतिक मूल्यों के अंतर को समझने में जनता की सहायता करे और

ईसाइयत के नाम पर धार्मिक उत्साह का संगठन करे ।

१९१२ में रोशेनबुश ने फिर लिखा : "मनुष्यों के ऊपर चीजों को तरजीह देना एक खतरनाक, व्यावहारिक भौतिकवाद है । ईश्वर के ऊपर धन के देवता को स्थान देना ही मूर्तिपूजा का वह रूप है जिसके विरुद्ध ईसा मसीह ने हमें चेतावनी दी है :

१९३३ में "फैडरल कौंसिल आफ चर्चिज़" ने एक बयान में कहा, "साई अंतरात्मा को तो पूर्ण संतोष तभी होगा जब निजी लाभ के उद्देश्य के स्थान पर पारस्परिक सहायता और सद्भाव का उद्देश्य व्यवहार में आ जाय ।"

अमरीकी कैथोलिकों ने भी यही बात कही कि सामाजिक व्यवस्था को मानवीय बनाना चाहिए, लेकिन उन्होंने प्रेरणा के बजाय नियंत्रण पर अधिक बल दिया । किसी भी न्यायपूर्ण और उपकारी सामाजिक व्यवस्था के लिए जीवन निर्वाह के लायक वेतन और वस्तुओं का उचित मूल्य आवश्यक है; और इन्हें प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा और 'आर्थिक प्रभुत्व' को 'उचित तथा निश्चित सीमाओं के अंदर रखना चाहिए' कैथोलिकों ने ही, प्रोटेस्टेंटों से बढ़कर समानता पर जोर दिया । वे चाहते थे कि प्रबंध में सहकारिता तथा साथ-साथ भागीदार बनने के द्वारा मिल्कियत का प्रजातंत्रीय वितरण हो ।

लेकिन आमतौर पर 'आर्थिक प्रजातंत्र' को बढ़ावा देने के लिए सभी धार्मिक दलों में एकता थी । इस आर्थिक प्रजातंत्र से उनका मतलब एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था से था जिसमें संघर्ष या चरम सीमा की प्रतिस्पर्धा के स्थान पर पारस्परिक सहयोग से काम होगा । इसका मतलब उस राष्ट्रीयकरण या 'राज्य के पूंजीवाद' से नहीं था जो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के समाजवादियों के उत्साह का मुख्य विषय रहा था । वास्तव में इसका कोई विशेष कार्यक्रम नहीं था क्योंकि इसका उद्देश्य राजनैतिक नहीं था । यह इतना विस्तृत अवश्य था कि मजदूरों को चर्चों में स्थान मिल सके, लेकिन इतना निश्चित भी नहीं था कि इसके द्वारा चर्चों

को सुधार के कार्यक्रम का समर्थक बनाया जा सके। चर्चों पर, विशेषकर प्रोटेस्टेंट चर्चों पर, बहुत बार बुर्जुआ होने का आरोप लगाया जाता था और कहा जाता था कि वे न केवल श्रमिकों के प्रति उदासीन हैं बल्कि पूरी तरह प्रभुतावाले वर्ग के साधन बने हुए हैं। सामाजिक संदेश को तो जनसाधारण को यह विश्वास दिलाना था कि उसे इसकी भलाई की चिंता थी, और धार्मिक संस्थाओं के माध्यम से काम करने के लिए श्रमिकों को निमंत्रित करना था। जब १९३४ में 'कांग्रीगेशनलिस्ट' नेताओं ने सामाजिक कार्य के लिए अपनी परिषद् का संगठन किया तो उन्होंने यहाँ तक कहा कि संसार के काम के लिए चर्च का भी बलिदान कर देना चाहिए : "हमें यह विश्वास है कि एक युद्धहीन, न्यायपूर्ण और भ्रातृत्वपूर्ण संसार के निर्माण के काम में अपने आपको खो देने से ही चर्च अपने आप को पा सकेगा। इसी से एक ऐसा जीवन लाने के काम में हम अथक परिश्रम के साथ अपने आपको लगा रहे हैं जिसमें सब मनुष्यों को शांति, सुरक्षा और समृद्धि मिल सकेगी।

'डिप्रेशन' के दिनों में 'कांग्रीगेशनलिस्ट' के साथ बाकी प्रोटेस्टेंट चर्चों (प्रेस्बिटेरियन और ऐपिस्कोपालियन) ने भी जिनके साधारण सदस्य राजनीतिक दृष्टि से अनुदारवादी थे, एक 'राष्ट्रीय पश्चात्ताप' की लहर आगे चलायी। इसमें 'न्यू डील' का पूरा समर्थन तो नहीं किया गया, पर हाँ, इससे यह पता अवश्य चलता था कि उनकी अंतरात्मा में कुछ खटक मौजूद थी और वे नियोजन तथा सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के किन्हीं रूपों को स्वीकार करने के लिए उत्सुक थे। लेकिन मज़दूर वर्ग को की जाने वाली इन ऊपर-ऊपर की और अस्पष्ट अपीलों का प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगा और फिर इस उद्देश्य की पूर्ति में ठोस योगदान करने के लिए चर्चों को राजनीतिक अखाड़े में उतरना पड़ा। उन्होंने ऐसा किया और परिणाम वही हुआ जो होना था। आंदोलन की नैतिक एकता समाप्त हो गयी लेकिन वह आर्थिक काम-काज में सचमुच लग गया। पहले बनाये गए आदर्शों के आधार पर हर कांग्रीगेशन (संघ) के अंदर आर्थिक नियो-

जन और श्रम संगठन के व्यावहारिक मुद्दों पर बहस होने लगी और उनका मूल्यांकन किया जाने लगा। विश्वास और हितों के तीव्र मतभेदों के कारण चर्चों में स्थानीय तथा राष्ट्रीय रूप में हलचल मचने लगी।

संघीय चर्च परिषदें तथा राष्ट्रीय गोष्ठियाँ तथा पादरी लोग भी जब इस प्रकार कुछ प्रभावशाली जनसाधारण के मुकाबले 'समाजवाद' के अधिक निकट आ गए तो १९३७ में 'चर्च लीग ऑफ़ अमेरिका' की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य "नये सामाजिक संदेश को धर्म के क्षेत्र में" बढ़ने से रोकना था। इसने "राष्ट्र भर में पादरियों के संमुख उन सामान्य लोगों के दृष्टिकोण को रखने की कोशिश की जो कि वास्तव में चर्च के आधार थे और देश के निजी उद्योग-व्यवस्था में जिन्होंने बहुत कुछ दाँव पर लगा रखा था"। इसके अनुसार उन्होंने ऐसे पादरियों, अध्यापकों तथा अन्य सामाजिक नेताओं के प्रभाव को विफल करने की कोशिश की जो बड़े पैमाने पर इस धारणा को स्वीकार करते जा रहे थे कि मुनाफे का विचार या मुनाफे के उद्देश्य से व्यापार करना कोई बुराई की बात है। धार्मिक विचारों के व्यापारियों के अंदर अधीरता के चिह्न प्रकट हो रहे थे। उनका विचार था कि पादरी लोग ऐसे क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं जिसका उन्हें अनुभव नहीं है। उन्होंने 'फेडरल कौंसिल' को तथा आम पादरियों को इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि वे अपने विचारों को अपने-अपने चर्चों के अधिकृत आदेशों के रूप में प्रस्तुत न करें। इस बात का उन्होंने स्वागत किया कि चर्चों को चर्च बने रहने में ही संतोष रहे ; वे राजनीति या व्यापार के ब्यौरों का निर्देश किये बिना ही पश्चात्ताप और सुधार के उपदेश देते रहें।

तो भी सामाजिक आंदोलनों के लिए बने आयोग और परिषद धर्म निरपेक्ष जीवन के विभिन्न मुद्दों को अपने धार्मिक वर्गों में ले आने तथा ठोस नैतिक मुद्दों को उभाड़कर सामने रखने के काम में आगे बढ़ती गई हैं, यद्यपि उन्हें अपने द्वारा सिफ़ारिश की गई विशिष्ट नीतियों के लिए

आम समर्थन पाना असंभव ही जान पड़ता है। चर्च की वेदियाँ, रवि-वासरीय विद्यालय तथा वाई० एम० सी० ए० इस प्रकार अमरीकी चेतना को स्पष्ट करने के विचार-स्थल बन गए। इसी बीच सामाजिक संदेश के नेता आपसी विचार-विनिमय के लिए इकट्ठे हुए, और बजाय राज-नीतिज्ञों की तरह एक अनाक्रामक प्लेटफार्म बना लेने के उन्होंने सच्चे नैतिकतावादियों की तरह ऐसी नीतियों पर पहुँचने की कोशिश की जिनका वे समर्थन कर सकते थे। इसके परिणाम स्वरूप 'फेडरल कौंसिल' ने १९३२ में 'चर्चों के सामाजिक आदर्शों' को नये सिरे से बनाया। (प्रद-र्शन सामग्री संख्या ७)

सिद्धांतों को विशिष्ट रूप में फिर से बनाने के साथ-साथ राष्ट्रीय परिषद् ने अनेक अनुसंधान तथा खोज की योजनाएँ भी चलायी हैं। इनमें "ईसाइयत के सिद्धांतों को आर्थिक जीवन में लागू करने" पर एक अध्य-यन भी शामिल है जिसे राकफेलर फाउंडेशन के द्वारा भी चलाया जा रहा है। इसके निर्देशक श्री चार्ल्स पी० टाफ्ट के अनुसार अध्ययन की जाने वाली मुख्य समस्या यह पता करना है कि सामूहिक आर्थिक संगठन और शक्ति की वृद्धि का प्रभाव नैतिक उत्तरदायित्वों और नीतियों पर किस प्रकार पड़ता है।

यद्यपि अधिकृत समर्थन नहीं था, तो भी 'नेशनल कैथोलिक वेल-फेयर कौंसिल', 'दि फेडरल कौंसिल ऑफ़ दि चर्चिज़ ऑफ़ क्राइस्ट' और 'सिनागाग कौंसिल आफ़ अमेरिका' ने १९४६ में संयुक्त घोषणाएँ कीं जिनसे पता लगता है कि अमरीका की धार्मिक चेतना के स्पष्टीकरण ने सामाजिक सुधार के सामान्य सिद्धांतों को अभिव्यक्ति देने की दिशा में १९३२ से पर्याप्त प्रगति की है। और इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि जन साधारण तथा विधान सभाइयों की चेतना पर केन्द्रीय, अधिकृत धार्मिक संगठनों के रुख का काफ़ी प्रभाव रहा है।

इस सामान्य नैतिक आधार के अलावा विभिन्न धार्मिक प्रेसों और गोष्ठियों ने विशिष्ट आर्थिक और राजनैतिक सुधारों को आगे बढ़ाने की

चेष्टा की है। इस तरह कैथोलिकों ने कई तरह की सहकारी संस्थाओं को शुरू किया है, और अभी हाल में, पोप के 'समूहवाद' और इटली तथा पुर्तगाल के अभिषदवादी प्रयोगों के प्रभाव में आकर उन्होंने ऐसी 'आर्थिक परिषदों' की स्थापना पर बल दिया है जो राष्ट्र के मुख्य हितों और कार्यों में सामूहिक रूप से तालमेल बैठाएँगी, लेकिन साथ ही प्रत्येक को यथासंभव प्रजातंत्र और स्वायत्तता तथा सबको एक केन्द्रित नियोजन का माध्यम प्रदान करेंगी। इसी तरह २० नवम्बर, १९४८ को अपनी घोषणा (प्रदर्शन सामग्री संख्या ८) में अमरीकी बिशपों ने सामान्य हित के लिए सहयोग की स्थायी एजेंसियों के रूप में पूंजी और श्रम के स्वतंत्र संगठन का समर्थन किया। उन्होंने प्रत्येक उद्योग में और सामान्यतया सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था में पूंजी और श्रम के अधिकृत प्रतिनिधियों के बीच स्वतंत्र रूप से संगठित ऐसे सहयोग का भी समर्थन किया जिस पर सरकार का निरीक्षण तो हो पर नियंत्रण न हो। स्वतंत्र रूप से संगठित सहयोग की इन विभिन्न एजेंसियों को 'आक्यूपेशनल ग्रुप,' 'वोकेशनल ग्रुप' या अभी हाल में 'इंडस्ट्री कौंसिल' आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है। ब्रिटेन के 'गिल्ड सोशलिज्म' की तरह के इस वितरणवाद या अभिषदीय बहुत्त्ववाद द्वारा राज्य के पूंजीवाद और दलों की तानाशाही के अधिकारतंत्र को बचाने का इरादा किया जा रहा है। रबियों के संगठन ने संतुलित अर्थ व्यवस्था, सबके लिए आर्थिक समता और सुरक्षा, निजी एकाधिकार को तोड़ने तथा बैंक, परिवहन, संचार-व्यवस्था और शक्ति-स्रोतों पर सार्वजनिक स्वामित्व के लिए आर्थिक नियोजन पर बल दिया है। प्रोटेस्टेंट लोगों ने सिद्धांत रूप में 'सामाजिक कल्याणकारी राज्य' का समर्थन किया है लेकिन उन्होंने किसी निश्चित प्रोग्राम के साथ अपने आपको बाँध नहीं लिया है। तो भी, उन्होंने उद्योग में स्त्रियों और बच्चों के बचाव के लिए कानून बनाने के काम को हाथ में लिया है जिसे कैथोलिक नहीं करना चाहते रहे थे।

सामाजिक संदेश पर पुनर्विचार

राजनैतिक अखाड़े में धार्मिक संगठनों का इस प्रकार उतर आना इतना सफल हुआ कि इससे परेशानी पैदा होने लगी। आंदोलन के विचार-पूर्ण तथा उत्तरदायित्वपूर्ण नेताओं को आशंका होने लगी कि संगठित धर्म के परिणाम क्रांतिकारी हो जाएँगे। ये आशंकाएँ और भी वास्तविक तब हो गई जब यह पता चला कि कुछ नेता क्रांतिकारी परिवर्तनों का वस्तुतः स्वागत कर रहे थे। क्या ईसाई चर्चों का स्थान एक ईसाई सामा-जिक व्यवस्था ले लेगी? अगर नहीं, तो ऐसे 'राज्य' में चर्च कौन सा विशिष्ट पार्ट अदा करेंगे? क्या धार्मिक समाजवाद धर्म-निरपेक्ष समाजवाद से भिन्न होगा? पीछे की घटनाओं के क्रम ने इन बहुत कुछ काल्पनिक प्रश्नों के अप्रत्याशित उत्तर दिये हैं। 'डिप्रेशन', तानाशाही और महायुद्ध ने अमरीका में भी राजनैतिक सुधार को इतना पेचीदा बना दिया है कि स्वयं सुधारकों को भी भ्रांति होने लगी है। उदार-वादियों को विशेषकर निराशा हुई जब उन्होंने पाया कि अधिकार की माँग बढ़ती जा रही है। जनसाधारण ने पादरी वर्ग से शिकायत के स्वर में कहा : "मामलों को राजनैतिक रूप से पेचीदा मत बनाओ, लेकिन नैतिक अधिकार को सरल बना दो।" और युवक लोग अध्यापकों को बताने लगे कि "कौन-सी बात कैसे है।" अधिकारवादी इस सार्वजनिक घपले का इतना फायदा उठा रहे थे कि सामाजिक बने धर्म के अमरीकी नेताओं के सामने सबसे तीव्र और तात्कालिक समस्या यह हो गई कि बिना अधिकारवादी बने अधिकार का प्रयोग कैसे किया जाए।

पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य का उपदेश देने वालों को धीमे-धीमे यह बात स्पष्ट हो गई कि उस राज्य के अंदर एक खास तरह के दिव्य या पवित्र समाज के लिए स्थान होगा। संघों के बड़े समुदाय में यह एक ऐसा समुदाय होगा जिसका प्रमुख कार्य दिव्य इलहाम का संरक्षक और प्रवक्ता बने रहना होगा। और अब वे समुद्र पार से बार-बार आती हुई आवाज़ को मन से सुनने लगे : "चर्च को चर्च ही रहने दो"।

कैथोलिकों के लिए इस स्थिति से कोई समस्या पैदा नहीं हुई क्योंकि वे सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में किसी भी नैतिक विषय पर अधिकार के साथ बोलने के लिए तैयार थे। लेकिन सामाजिक सन्देश के प्रोटेस्टेंट उन्नायकों के लिए एक परेशानी पैदा हो गई। सभी विविध अमरीकी चर्च पवित्र चर्च कैसे हो सकते थे ? उनके लिए चर्च का सैद्धान्तिक पत्र सामाजिक सन्देश का एक आवश्यक अंग बन गया, और यह सैद्धान्तिक समस्या धार्मिक अधिकार के साथ प्रजातंत्र का मेल बैठाने की व्यावहारिक समस्या बन गई। इलहाम के प्रति भी एक सर्वथा नए खोज-परक दृष्टिकोण की आवश्यकता थी। इसे धर्मशास्त्रियों के एक वर्ग ने पूरा किया जिसने, एच० रिचार्ड नीबर के शब्दों में कहा "इलहाम हमारे धार्मिक विचारों का विकास न होकर उनका सतत परिवर्तन है।" चाहे यह सतत इलहाम के द्वारा सतत् परिवर्तन का प्रोटेस्टेंट दृष्टिकोण रहा हो जिसे स्वीकार किया गया, या फिर कार्डिनल न्यूमैन का यह उदार कैथोलिक दृष्टिकोण कि इलहाम में भी विकास होता है, दोनों ही दशाओं में निरपेक्ष अधिकार का एक लचकीला भाव मिल गया जिसने चर्चों को इस योग्य बना दिया कि वे अपने दिव्य कार्य से चिपके रह सकें और साथ ही साथ प्रजातंत्रीय समाज के नैतिक प्रयोगों में भी भाग ले सकें। इस तरह अब ईश्वर की आवाज़ उन चर्चों में भी सुनी जा सकती थी जो अधिकारवाद के विरुद्ध थे।

सार्वदेशिक आन्दोलन तथा केन्द्रीकृत धार्मिक अधिकार के लिए उत्साह के बावजूद चर्च वाले बहुत से अमरीकियों ने चर्च के 'कांग्रीगेशनल' भाव को बनाए रखा। कोई भी अमरीकी चर्च वास्तव में एक स्थानीय समाज है जिसके सदस्य इसमें अन्य किसी भी ऐच्छिक समाज की तरह शामिल होते हैं। इस तरह धर्म-निरपेक्ष संस्थाओं के बीच मिलनसारिता के एक विशिष्ट प्रकार के रूप में इसका स्थान है, और इसका दावा सिवाय एक तकनीकी पवित्रता के और किसी चीज़ का नहीं है। विशेष तौर पर सामाजिक सन्देश के नेता इस बात के लिए उत्सुक थे कि ईसाई

चर्च को समाज या संस्कृति का एक अविच्छिन्न अंग माना जाए न कि संसार के वीराने में चीखती हुई एक अति प्राकृतिक आवाज़। लेकिन केवल सम्प्रदायवादी होने के नाम पर यूरोप के चर्चवादी धर्मशास्त्रियों द्वारा इनकी आलोचना की जा रही थी। एफ० अर्नेस्ट जान्सन ने, जिसे इस आलोचना का शिकार सबसे अधिक बनना पड़ा, इसे अच्छी तरह व्यक्त किया है :

तुम अपने चर्च में ऐसे ही शामिल होते हो जैसे अपने क्लब में। लेकिन चर्च को ऐसा नहीं समझा जा सकता। इसकी सदस्यता तो परिवार की सदस्यता के समान है। तुम अपने परिवार को छोड़ अवश्य सकते हो पर इससे इस्तीफ़ा नहीं दे सकते। यहाँ साम्प्रदायिक चर्च का सामना 'एकत्रित' चर्च—विश्वास करने वालों के ऐच्छिक समाज से हो रहा है। अमरीका में चर्च का यह पिछला भाव ही अधिक प्रचलित है।

डॉ० जान्सन ने इस मुद्दे का सीधा सामना किया और सामाजिक सन्देश के अपने पुनः परीक्षण में चर्च के अधिकार के प्रश्न का एक अमरीकी हल सामने रखा :

चर्च में विशिष्ट बात यह है कि यह एक ऐसा समुदाय है जिसमें मनुष्य जीवन के हर पहलू के मूल्यांकन की प्रक्रिया में भाग लेते हैं, एक निरपेक्ष आदेश के प्रकाश में अपने जीवन पर अपनी समझ के अनुसार आध्यात्मिक निर्णय पर पहुँचते हैं, अपने शासन के लिए सामूहिक नैतिक मानदण्ड निर्धारित करते हैं और सामूहिक पूजा में अपने सम्पूर्ण अनुभव को एक बनाते हैं। इन सभी समुदायों में अधिकार का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है, क्योंकि यह सिद्धान्त कहता है कि सम्मृद्ध परम्परा की पृष्ठभूमि में संचालित वैयक्तिक अनुशासन के सम्मिलित अनुभव के रूप में समूह-चिन्तन, समूह-आकांक्षा और मूल्यों के समूह-परीक्षण का महत्त्व सर्वाधिक है। एकान्त में व्यक्ति द्वारा प्राप्त की गई किसी भी चीज से यह सामूहिक जीवन श्रेष्ठ है। धार्मिक समुदाय की प्रामाणिकता की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि सामूहिक जिज्ञासा और साधना के

द्वारा श्रेष्ठ धार्मिक अनुभव—अपने से ऊपर उठने में प्रेरणा मिलती है। ईसाई समुदाय के इस महान् आदर्श का कि "जहाँ भी दो-तीन आदमी मेरे नाम पर इकट्ठे हैं, मैं वहाँ हूँ"—और क्या अर्थ हो सकता है? समुदाय कोई मिल जाने का भाव नहीं है। केवल जोड़ से यह नहीं बनता। मानवीय सम्बन्धों में यह कोई विशिष्ट ही चीज़ है।

इसका कहना है कि "सच्चा पैगम्बरपन प्रतिनिध्यात्मक होता है।" दूसरे शब्दों में एक प्रजातंत्रीय समाज में चर्च उतना ही प्रामाणिक है जितना अधिक पूर्ण रूप से यह अन्य संस्थाओं से बढ़कर समुदाय में जीवन की प्रक्रिया को अपनाता है। चर्च को पवित्र एकत्व के प्रतीक की घोषणा से कुछ बढ़कर करना चाहिए, इसे एक सामूहिक उदाहरण इस बात का रखना चाहिए कि किस प्रकार अनुभव के द्वारा एक पूर्ण समुदाय दिव्य इलहाम का साक्षी हो सकता है।

चर्च के पैगम्बरवादी कार्य की इस पुनर्व्याख्या के समानान्तर ही इसके पादरी सम्बन्धी कार्य की पुनर्व्याख्या भी सामने आई। लूथर द्वारा घोषणा किए गए पादरी-पद के प्रजातंत्रीकरण ने 'डिसाइपिल्स', 'मार्मन्स' तथा 'क्रिश्चियन आइंटिस्ट्स' जैसे 'सामान्य' चर्चों को छोड़कर प्रोटेस्टेंटों के बीच पादरियों की आवश्यकता को बहुत कम कर दिया था। लेकिन हाल की विश्व पीड़ा के साथ यह भाव जगा कि जिस तरह और संस्थाएँ हितों के समुदाय हैं, उसी तरह धार्मिक संगठन कष्ट सहन के समुदाय हैं। चर्च समाजीकृत पश्चात्ताप है। दूसरे महायुद्ध के दौरान अँगरेज़ी भाषी श्रोताओं के सम्मुख बोलते हुए डीन स्पैरी ने स्वीकार किया :

शायद अगली आधी सदी के इतिहास में नैतिक पिछड़ापन ही हमारे भाग में आएगा क्योंकि हमने अपने समय में 'कष्ट सहन की कुलीनता' में अपने लिए कोई स्थान नहीं प्राप्त किया होगा। ऐसा लगता है कि हमारे चर्चों के बारे में यह बात खासतौर पर सच होगी। उनके बिना परखे निरर्थक कथनों का मूल्य अब से उन लोगों के लिए कुछ भी नहीं

होगा जो अत्याचार की आग में परखे जा चुके हैं।

सामूहिक पश्चात्ताप और पुनरुद्धार के लिए कष्ट सहन के इस सिद्धान्त की प्रासंगिकता को यहूदी समुदायों ने प्रकट तौर पर समझा। कैथोलिकों ने तो अपने पूजा-कार्य और चिह्नों के बीच क्रूस को केन्द्रीय स्थान दिया ही था, अब प्रोटेस्टेंट मत के उदार लोग भी धार्मिक आचार में आत्म-त्याग के आदर्श को आवश्यक मानने के बारे में उनसे सहमत थे और आमतौर पर हाल में अमरीका में इस बात को समझा गया है कि चर्च किस प्रकार ऐतिहासिक सातत्य के भाव को—संतों से समागम और जीवितों के मृतकों से, विशेषकर शहीदों से सम्बन्ध के द्वारा—विशिष्ट रूप से पनपा सकता है इस प्रकार चर्च समाज के अन्दर धर्म सम्बन्धी एक विशिष्ट गुण पैदा कर रहे हैं जिससे ईश्वर की उपस्थिति, सार्व-भौमिकता तथा पवित्रता के बारे में एक रहस्यात्मक भावना उत्पन्न होती है।

इन विभिन्न उपायों के द्वारा सामाजिक सन्देश को आधुनिक घटनाओं के अनुरूप ढाल लिया गया है, और आमतौर पर इसके प्रारम्भिक आदर्श-वादी समाजवाद का स्थान इस यथार्थवादी विचार ने ले लिया है कि सामाजिक पुर्ननिर्माण के सामान्य कार्य में धर्म क्या योगदान कर सकता है।

धर्म-निरपेक्ष सामाजिक कार्य से हटकर समाज में आत्मा के उद्धार संबंधी कार्य पर चर्च के फिर आ जाने के बारे में प्रोटेस्टेंट धर्मशास्त्री आम तौर यह कहते हैं कि वह 'सामाजिक सन्देश' तो इस सदी के चौथे दशक में ही समाप्त हो गया था और नव्य-रूढ़िवादी धर्मशास्त्र की वृद्धि वास्तव में एक नए सामाजिक सन्देश को प्रकट करती है। इसी-लिए हमें 'सामाजिक सन्देश के बाद का सन्देश' और 'सामाजिक सन्देश का अन्त' के बारे में पढ़ने को मिलता है। ऐसे वाक्यांश वास्तव में भ्रामक हैं, क्योंकि यद्यपि यह सच है कि सिद्धान्त रूप से और आदर्शरूप से ईसाइ-यत के सामाजिक आचार में उग्र परिवर्तन हुआ है, लेकिन चर्चों के

क्रियात्मक सामाजिक कार्य में एक आम सातत्य रहा है। 'सामाजिक सन्देश पर पुर्नविचार' वाक्यांश शायद अधिक सही हो, क्योंकि समाज को ईसाई बनाने के मूलभूत उद्देश्य आज पहले से भी ज्यादा गहरे हैं, और ईसाई राजनीति पहले किसी भी समय से ज्यादा यथार्थवादी है। इसलिए साधारण पाठक को यह अनुमान करने में सचेत रहना चाहिए कि उदारवाद के विरुद्ध धर्मशास्त्रीय प्रतिक्रिया का तात्पर्य व्यावहारिक राजनीति में प्रतिक्रिया से है; बल्कि इसके विपरीत, चर्चों के कार्यक्रम आज पहले के 'बुर्जुआ समाजवाद' के मुकाबले अधिक उग्र और पेचीदे हैं।

इस शताब्दी के अन्दर अमरीका में धर्म में हुए नैतिक पुर्ननिर्माण के बारे में जो सामान्य सिद्धान्त इस अध्याय के प्रारंभ में दिया गया है उसकी पुष्टि शायद ऊपर दिए गए ऐतिहासिक ब्यौरे से हो गई होगी। चिन्ता का केन्द्र अब आत्मा को बचाने से हटकर समाज को बचाना, अति-प्राकृतिक कृपा या दया से हटकर आर्थिक और राजनैतिक उपायों द्वारा सामाजिक उद्धार के लिए कार्य करना, धार्मिक पुनर्जीवन से हटकर सामाजिक पुर्ननिर्माण और नैतिक तुष्टि से हटकर नैतिक आलोचना हो गया है।

अतिप्राकृतिक अतिसामाजिक सन्देश

धार्मिक उदारवाद के इस धर्म-निरपेक्षीकरण तथा समाजीकरण का दो प्रकार की अन्तश्चेतनाओं द्वारा विरोध होना ही था : एक तो उनके द्वारा जिनका विश्वास 'संसार के पुर्ननिर्माण' में नहीं के बराबर था और दूसरे उनके द्वारा जो सम्पूर्ण सामाजिक सन्देश को बुर्जुआ भावुकता या आशावाद समझते थे। जब ये दोनों प्रकार के विरोध एकत्रित हो गए जैसा कि प्रायः होता है, तो परिणाम स्वरूप धार्मिक विरोध के उन आन्दोलनों का संगठन उत्पन्न हो गया जो सामाजिक रूप से प्रतिक्रिया-वादी थे। सामाजिक सन्देश के विरोध में 'पूर्ण पवित्र-सत्य' और सहस्रा-

ब्दीय आशा के चर्च उठ खड़े हुए । इन चर्चों को समाजशास्त्रियों द्वारा आमतौर पर 'कम अधिकार वालों के चर्च' कहा जाता है, लेकिन हमें उनका गलत रूप न पेश करने के लिए सावधान रहना चाहिए । समाज-विज्ञान और सैद्धान्तिक राजनैतिक शिक्षा की दृष्टि से इन 'ईवैंजलिस्टिक' चर्चों के सदस्य अपेक्षाकृत निरक्षर और शिक्षा की दृष्टि में 'कम अधिकार प्राप्त' हैं, लेकिन ये लोग धनी तथा निर्धन दोनों प्रकार के हैं, और उनमें से अधिकांश 'निम्न मध्य' वर्ग में हैं जहाँ कि अधिकांश अमरीकी किसी न किसी रूप में होते ही हैं । धनी व्यापारियों ने ऐसे आन्दोलनों, उनके प्रेसों, स्कूलों और मोर्चों में पैसा लगाया है । मार्क्सवादियों द्वारा बड़ी आसानी से उन पर लोगों को 'अफीम' खिलाने का दोष लगाया जा सकता था । अगर यह बात न होती कि वे स्वयं भी वही 'अफीम' खा रहे हैं, और किसी आर्थिक लाभ की योजना के बजाय धार्मिक विश्वास से कार्य कर रहे हैं। वे आमतौर से ऐसे 'पके हुए' आदमी हैं जिनका अमरीकी सर्वहारा वर्ग के सभी लोगों के साथ यह विश्वास है कि संसार वास्तव में बहुत कुटिल और बुरा है और यह तब तक ऐसा ही रहेगा जब तक कि ईश्वर इसे अन्तिम रूप से नष्ट न कर दे । संसार को बचाने का कोई इरादा है ही नहीं । मनुष्य का धार्मिक कर्त्तव्य है कि वह इस संसार से और इसकी घृणित बुराइयों से भागे । विरोध और पलायन की यह मनोवृत्ति अपने आपको ढीला छोड़ देने की मनोवृत्ति नहीं है । तीखे यथार्थवादी अनुभव और सामान्य समझ को की जाने वाली अपीलें इसमें मिली रहती हैं । जब अमरीकी निर्धन लोग धर्म की ओर मुड़ते हैं, जैसा कि उनमें से अधिकांश के साथ होता है, तो वे क्रान्ति में आस्था की ओर नहीं अपितु अपने साथियों के अन्दर की आस्था के विरुद्ध विद्रोह की ओर मुड़ते हैं । 'हमारा ईश्वर में विश्वास है' का एक दिखावटी पहलू भी सदा रहा है । ऊपर से उद्धार तो होगा पर ऊपर बैठे लोगों से नहीं । हालाँकि सामाजिक सन्देश ने आराम से रहने वाले लोगों की चेतना पर अधिकार कर लिया है, इसका प्रभाव

उस सर्वहारा वर्ग में अपेक्षाकृत कम हुआ है, जो, कम से कम अमरीका में, अर्थशास्त्र के बारे में निराशावादी और राजनीति से बहुत खिन्न रहा है।

नैतिक आधारवादिता आज पहले से बढ़कर औरों को बुरा बताने का आन्दोलन बन गई है : इसकी दृष्टि में मनुष्य और समाज दोनों अनैतिक हैं, और धर्म मानवीय साधनों और सांसारिक प्रसन्नता से बढ़कर किसी चीज़ में विश्वास का नाम है। शिक्षित ईसाई आधारवादियों में, जिनकी संख्या देश के बजाय विदेश में अधिक है, लोकप्रिय नेता कीर्कगार्ड और उनामुनों जैसे भ्रान्ति से निकले व्यक्ति हैं जो ईसाई राज्य और सामाजिक व्यवस्था को ईसाई बनाने के सम्पूर्ण विचार का ही मज़ाक उड़ाते हैं। एक ईसाई से संसार में आराम से रहने की आशा नहीं की जाती ! और आधारवादी यहूदियों में तो, यदि यह विशेषण उनके साथ लगाया जा सके, समाज को ईसाई बनाने के विचार को व्यंग्यपूर्ण दृष्टि से ही देखा जाता था, और अब वे उनकी आवाज़ सुनते हैं जो निराशा में "मसीहा के भक्त यहूदी धार्मिकों की ओर जाने के बजाय अपने यहूदी मुहल्लों में वापिस जाओ" चिल्ला रहे हैं। लेकिन आमतौर पर 'कम अधिकार प्राप्त होगों के चर्च' निराशा पर आधारित न होकर इस आशा पर आधारित होते हैं कि इस संसार के समाप्त करने से पूर्व ईश्वर, अपने ही समय और प्रकार से, एक ऐसा 'संकट' उत्पन्न कर देगा जिससे संसार में शान्ति का राज्य छा जाएगा और जिससे एक नए और अधिक अच्छे संसार की भूमिका बन जाएगी। इसे हम 'न्यू डील' विश्वास की, जो कि अमरीकी नैतिकता में एक गहरा जमा हुआ तत्त्व है, एक अतिप्रकृतिवादी व्याख्या कह सकते हैं।

'न्यू डील' के दशक में प्रोटेस्टेंट मत के चरम सीमा के धर्मप्रचारवादी चर्च, जिनमें पहले महायुद्ध के दौरान नया जीवन आ गया था, दिन दूने रात चौगुने बढ़ने लगे। उदाहरण के लिए 'चर्च ऑफ़ नज़ारेन' की, जो कि उसी तरह की कम से कम एक दर्जन धार्मिक संस्थाओं जैसा

ही है, १९०६ में १९ राज्यों में ६,६०० सदस्यों वाले १०० चर्च थे। १९२६ में ४७ राज्यों में इसके ६३,००० सदस्यों वाले १,४०० चर्च थे, और १९४९ में ४८ राज्यों में इसके २,२०,००० सदस्यों वाले ३,००० चर्च थे।

सहस्राब्दवादी उपदेशक, चार्ल्स टी० रसेल के, जिसने कि उन्नीसवीं शताब्दी में निकट भविष्य (१९१४) में ईसा के दुबारा आने की घोषणा की थी, अनुयायी 'ज़ियाल्स वाच टावर सोसायटी' कुछ थोड़े पर आस्थावान् लोगों का समूह है। पहले ये लोग 'रसेलाइट बुकलेट्स' और (१८७९ में शुरू की गई) अपनी पत्रिका 'वाच टावर' की कुछ हज़ार प्रतियाँ बाँटते थे। लेकिन १९००–१९१० के बीच इस सोसायटी ने अपनी 'स्टडीज़ इन स्क्रिप्चर्स' की लाखों प्रतियाँ बाँटी और अब यह 'वाच टावर' की हर पक्ष में ६,००,००० प्रतियाँ बाँटती हैं।

१९१४ में एक आठ घंटे का चलचित्र 'फोटो–ड्रामा ऑफ़ क्रिएशन' दिखाया गया। १९१९ में आठ हज़ार 'पादरियों' या 'साक्षियों' ने एक सभा में 'ईश्वर और उसके राज्य का अधिकाधिक प्रचार' करने पर सहमति प्रकट की। १९१९ में उन्होंने अपना नाम 'जिहोवाज़ विटनेस' (जिहोवा के साक्षी) रख लिया। १९४६ में क्लीवलैंड की एक सभा में सम्मिलित ८०,००० साक्षियों ने एक और पत्रिका 'अवेक!' (जागो) चलाई। इसी बीच रेडियो के बढ़ते हुए प्रसारणों के कारण ब्रुकलिन में डब्ल्यू. बी. बी. आर. रेडियो की स्थापना हुई। इन पूरी तरह आधुनिक उपायों द्वारा जेहोवा के साक्षियों ने, ईश्वर अपना राज्य किस प्रकार ला रहा है इस बात की अपनी व्याख्या की घोषणा कर दी है। (प्रदर्शन सामग्री संख्या ९ देखें)। सोसायटी के सभापति के शब्दों में इस धर्म प्रचार के सारांश से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इस प्रकार के प्रचार का एक ओर से तो धर्म-निरपेक्ष घटनाओं और बातों से और दूसरी ओर ईश्वरी राज्य की उदारवादी व्याख्या से कितना रोचक सम्बन्ध है।

१८८० में ही जिहोवा के साक्षियों ने घोषणा कर दी थी कि १९१४ में बाइबिल की भविष्यवाणी के अनुसार 'अधार्मिक लोगों के संसार' का नाश हो जाएगा। उस साल एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र से लड़ाई हुई। सभी साक्षी समझते थे कि ईसा के दुबारा आने और संसार के अंत का मतलब इस प्रत्यक्ष पृथ्वी के आग में जल जाने से नहीं था बल्कि इस 'वर्तमान बुरे संसार' पर शैतान के अप्रतिहत शासन के अंत और स्वर्ग में राजा के रूप में ईसा के राज्याभिषेक से था। वह राज्य कोई पृथ्वी का राज्य नहीं है, वह पृथ्वी पर की किसी राजनैतिक सरकार या सरकारों के समूह में न तो है ही और न कभी मिल सकता है। ईसा ने कहा था, "मेरा राज्य इस संसार का नहीं है", (जोन १८ : ३६) तो भी, उस स्वर्गिक राज्य का पवित्र शासन पृथ्वी पर उतरेगा और ईश्वर की इस प्रार्थना का उत्तर लाएगा : "पृथ्वी पर तेरी इच्छा ऐसे ही पूर्ण हो, जैसे कि स्वर्ग में।"

सबसे अधिक मार्के की बात जिहोवा के साक्षियों का यह विश्वास है कि ईश्वर का राज्य स्थापित हो चुका है, निकट है और अपना काम कर रहा है। लगातार चल रहे दर्दों और दुःखों को ध्यान में रखते हुए कइयों को यह अजीब सा मालूम देता है। तो भी, धर्मशास्त्रों में पुराने संसार के शासन से ईश्वरीय राज्य के शासन की ओर परिवर्तन के बारे में कहा गया है ; यह एक ऐसा समय होगा जब ईसा 'अपने शत्रुओं के बीच में राज्य करेगा' जबकि दुष्ट शैतान पृथ्वी के दुःखों को बढ़ाता जाएगा।

न केवल 'मनुष्य की बुद्धिमता ईश्वर की निगाह में मूर्खता है', अपितु मनुष्य की सारी संस्थाओं को भी निश्चित रूप से " विस्तृत, अधोगामी मार्ग पर बिना रुके चलते जाना है। इस युग की अधोगामी राह को कोई रोक नहीं सकता। इस सदी के परिष्कार को ये साक्षी ऐसे "बहुत पतले आवरण' के रूप में देखते हैं, जो 'आसानी से छीला जा सकता है'। साक्षियों का तर्क है कि यद्यपि इतिहास के दौरान उच्च कोटि के नैतिक व्यक्तियों ने अनेक आन्दोलन चलाए हैं, लेकिन उन सभी

पर शैतान का यहाँ तक अधिकार हो गया है कि वे अपने मौलिक उद्देश्य से विपरीत बात कहने लगे हैं। धर्मों के बारे में यह बात खासकर सच है" ये साक्षी बाइबिली प्रथा के रूप में प्रौढ़ों को बपतिस्मा देते हैं और 'मेमोरियल सपर' मनाते हैं। शेष सभी धार्मिक रीति-रिवाज़ केवल अन्धविश्वासपूर्ण मान्यताएँ हैं।

रक्षक ईश्वर में भोली श्रद्धा के इन बहुत 'आधुनिक' पुनरुत्थानों में एक सबसे अधिक चरम सीमा का और शिक्षाप्रद 'फादर डिवाइन पीस मिशन' है। इसको स्थापित हुए केवल तीस वर्ष हुए हैं, लेकिन यह हज़ारों नीग्रो और अनेक श्वेतों को श्रद्धा और शान्ति के एक ऐसे साहचर्य में ले आया है जो जितना पवित्र है उतना ही रूढ़िभिन्न भी। इसके सदस्य एक नया जीवन जीते हैं, उन्हें नई सुरक्षा और शान्ति मिलती है और उनके नए नाम होते हैं—वे 'स्वर्ग' में रहने वाले 'देवदूत' होते हैं। उनके 'कम्यूनियन' भोजन वास्तव में भोज होते हैं। और दिव्य माता और माता के साथ उनका जीवन वास्तविक भगवत्कृपा में साझा होता है। (प्रदर्शन सामग्री संख्या १० देखें) 'दि न्यू डे' के शीर्षक से छपे आन्दोलन के इतिहास से हम नीचे का उद्धरण यह दिखाने के लिए रख रहे हैं कि इस प्रकार का क्रान्तिकारी धार्मिक समाज पारस्परिक चर्चों के सामाजिक कार्यक्रम के जानबूझकर विरुद्ध है।

यह मान लिया गया है कि दिव्य पिता में विश्वास रखने वालों ने अपनी सेवाएँ पवित्र कार्य के लिए, बिना मुआवज़े के निश्शुल्क दी हैं।

यह भी मान लिया गया है कि 'पीस मिशन्स' के सह-कार्यकर्त्ता और प्रतिनिधि हमारे चेतन विश्वासों के अनुसार पूरी तरह ईश्वर में आस्था रखने के लिए तैयार हैं।

इसलिए संक्षेप में, न तो हम समाज कल्याण के कार्य में रहेंगे और न आगे सहायता ही माँगेंगे। हम बीमा नहीं करवाएँगे और जो इस समय है उसे हम इसलिए छोड़ देंगे ताकि हम अपने सम्पूर्ण हृदय, आत्मा और मन को उस ओर लगा सकें जिस ओर कि हम परिवर्तित हुए हैं—

हम कोई भी मुआवजा न ही लेंगे और बीमा नहीं कराएँगे। हम बुढ़ापे की पेंशन, बीमा, भूतपूर्व युद्ध-सेवियों की पेंशन और मुआवजा लेने से मना कर देंगे। यह सब इसलिए नहीं किया गया है कि यह उन पर धार्मिक बन्धन है बल्कि इसलिए कि यह उनके धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध है।

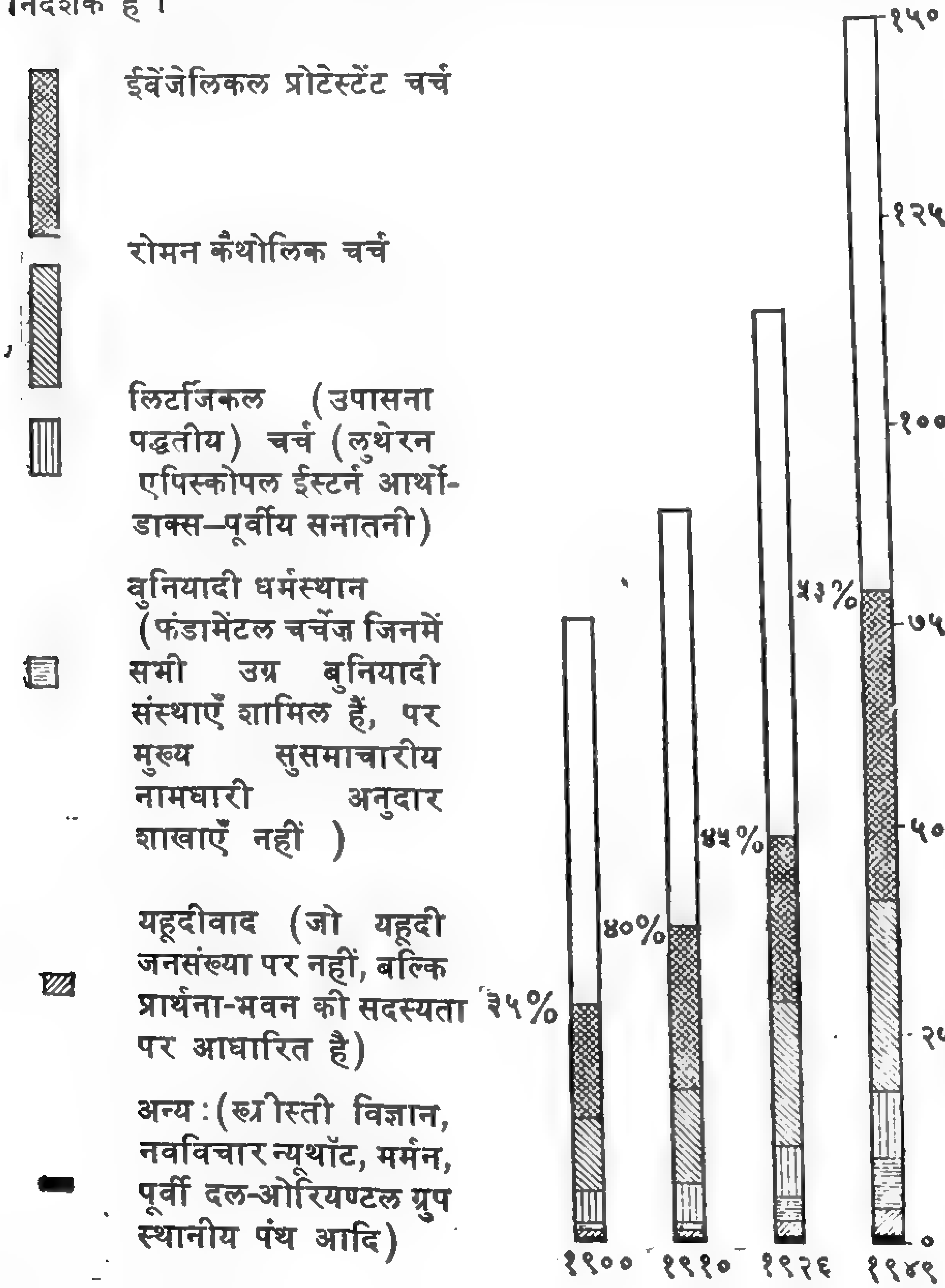
अभी हाल में निकले धर्म-सन्देशों के ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जो उदारवाद के सामाजिक सन्देश के तो तीव्ररूप से विरुद्ध हैं, पर तो भी उनसे पता चल जाता है कि वे आजकल भी सामाजिक अवस्थाओं के प्रति प्रतिक्रिया के रूप हैं। उनको केवल प्रतिक्रियावादी, अवशेष, या पलायन के उपाय कहकर टाल देने से काम नहीं चलेगा। धर्मशास्त्र या दर्शनों के रूप में उपहास योग्य प्रतीत कराने के लिए उनके कुछ अन्य चिह्न भले ही हों, पर ये सन्देश भी, अपने अधिक पढ़े पड़ोसियों के समान, नवीन, आधुनिक विश्वास हैं जिनमें समसामयिक नैतिक समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता झलकती है।

प्रदर्शन-सामग्री

प्रदर्शन—१

संयुक्त राज्य अमरीका में जनसंख्या की वृद्धि के साथ १९००—१९४९ ई० के बीच धार्मिक संस्थाओं का विकास :

यह अनुमान-पत्रक मोटे तौर पर विश्वस्त है; पर इससे उन प्रौढ़ सदस्यों (१३ वर्ष से अधिक अवस्था वालों) का ही दिग्दर्शन होता है जो मुख्य-मुख्य धार्मिक दलों में हैं। संख्याएँ मिलियन्स (दस लाखों) में हैं। अधिकृत मर्दुमशुमारी के आँकड़े और विभिन्न धर्मों द्वारा दिये गये अनुमान-पत्रक में समन्वय करके उन्हें मुकाबले में रखने के योग्य बना लिया गया है। कुंजी के रूप में उपयोग में लाय गये औसत सम्बद्ध-संस्था के निर्देशक हैं।



प्रदर्शित सामग्री संख्या २

१९०४ में बताये गए नये जीवन के चिह्न

थियोडोर टी० मंजर, के 'एसेज फॉर दि डे' (१९०४) पृष्ठ ३० से उद्धृत ।

आम जनता का प्रभाव इस समय उपदेशकों और चर्चों पर बहुत अधिक है। जो लोग पूर्व स्थापित सिद्धान्तों के बीच में रहते और सोचते हैं उनके बजाय जन-साधारण पर शक्तिशाली आन्दोलनों का प्रभाव कहीं अधिक पड़ता है। आत्मा पवन के समान है, और वह खुले में सबसे अधिक स्वतंत्रता से विचरती है। परिणामतः आज चर्चों में ऐसे परिवर्तन हो रहे हैं जिनकी जानकारी स्वयं चर्चों को नहीं है या जिनका वे तिरस्कार कर रहे हैं। यंगमन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन, दि क्रिश्चियन यूनियन, दि क्रिश्चियन एंडीवर सोसाइयटी, दि ब्रदरहुड ऑफ सेंण्ट एंड्रूज, दि एपवर्थ लीग, दि बैपटिस्ट यूनियन, दि स्टुडेंट वॉलंटियर मूवमेंट, दि ब्रदरहुड ऑफ एंड्रूज एंड फिलिप, दि गर्ल्स फ्रेंड्ली सोसायटी, दि किंग्स डॉटर्स और इसी तरह की अन्य आम संस्थाओं की आलोचना करने से पूर्व आलोचक को दुबारा सोच लेना चाहिए। इन संगठनों के सामने एक विचार और एक आन्दोलन है। चाहे वे कितने ही भद्दे और तुच्छ क्यों न प्रतीत हों और चाहे वे कैसी ही ग़लतियाँ क्यों न करें, वे उन चर्चों से ज्यादा बुरे नहीं रहेंगे जिनसे वे निकले हैं लेकिन जिन्हें वे छोड़ नहीं रहे। अगर उनमें उत्साह और समूह में रहने की भावना ज़रूरत से ज्यादा है तो भी वे अनजाने में चर्चों की अल्पता और नीरसता के विरुद्ध विरोध प्रकट कर रहे हैं। तरुणावस्था की वृत्ति के साथ वे जीवन में एक कार्य-क्षेत्र तलाश कर रहे हैं।

प्र० सा० संख्या ३

एक कैथोलिक अमरीकी नागरिक की हैसियत से अलफ्रेड ई० स्मिथ का सिद्धांत

१९२७ और १९२८ में बहु-प्रचारित 'एटलांटिक मंथली' (मई, १९२७) के पृष्ठ ७२८ से उद्धृत ।

मैं अपने सिद्धान्त को एक अमरीकी कैथोलिक के रूप में सामने रख रहा हूँ । मैं रोमन कैथोलिक चर्च के विश्वास और व्यवहार के अनुसार ईश्वर की पूजा में विश्वास करता हूँ । मैं अपने चर्च की संस्थाओं का यह अधिकार नहीं मानता कि वे संयुक्त राज्य के संविधान या इस देश के कानूनों के लागू करने में बाधक बनें । मैं सब मनुष्यों के लिए अन्तरात्मा की स्वतंत्रता में विश्वास करता हूँ और मानता हूँ कि कानून के सामने अधिकार के तौर पर, न कि किसी विशेष कृपा के तौर पर, सब चर्च, सम्प्रदाय और विश्वास बराबर है । मैं चर्च और राज्य के पूर्ण अलगाव में विश्वास करता हूँ और चाहता हूँ कि संविधान के इस नियम का पूरी तरह पालन किया जाय कि कांग्रेस किसी धर्म की स्थापना या उसका स्वतंत्र पालन करने से रोकने के बारे में कोई कानून नहीं बनाएगी । मैं विश्वास करता हूँ कि किसी भी चर्च की किसी सभा को यह अधिकार नहीं है कि वह देश के कानून के बारे में किसी भी तरह का कोई नियम बनाए । चर्चों के लिए नियम उनके ही द्वारा बनाए जा सकते हैं जिनके द्वारा उस चर्च के अंदर के अधिकारों का नियंत्रण होता हो । मैं मानता हूँ कि सार्वजनिक विद्यालय अमरीकी स्वतंत्रता के आधारस्तम्भ हैं, मेरी मान्यता है कि हर माता-पिता को अपने बच्चे के बारे में यह निर्णय करने का अधिकार होना चाहिए कि वह सार्वजनिक विद्यालय में पढ़े या उसके अपन धर्म द्वारा चलाए जाने वाले किसी धार्मिक स्कूल में । मैं इस राष्ट्र द्वारा अन्य देशों के घरेलू मामलों में दखल न देने के सिद्धान्त में विश्वास करता हूँ । और मानता हूँ दखल देने की ऐसी कोशिश का, चाहे वह किसी के

द्वारा क्यों न की जा रही हो, सबको विरोध करना चाहिए। और मैं ईश्वर के सामान्य पितृत्व के अधीन मनुष्य के सामान्य भ्रातृत्व में विश्वास करता हूँ।

प्र० सा० संख्या ४

धार्मिक विद्यालय और सांस्कृतिक बहुत्ववाद के लिए एक रबी का तर्क

'ज्यूइश एजुकेशन' (१९४९ पृ० ४०-४३) में प्रकाशित जोजेफ एच० लुकस्टीन के लेख 'रिलिजन एण्ड पब्लिक स्कूल्स' से उद्धृत।

धर्म के बारे में कट्टर व्यक्ति और धर्म तथा सार्वजनिक विद्यालय के प्रति उसकी मनोवृत्ति का समाधान कर देने के बाद भी इस समस्या का अन्त नहीं हो जाता। एक दूसरी तरह का कट्टर व्यक्ति भी है जिसकी स्थिति का भी समर्थन नहीं किया जा सकता। पहले प्रकार का कट्टर व्यक्ति धर्म को सभी सार्वजनिक शिक्षा-संस्थाओं में घुसेड़ना चाहता है जब दूसरे प्रकार का चाहता है कि हर अमरीकी बच्चे को केवल एक ही प्रकार की धर्म-निरपेक्ष शिक्षा दी जाय।

इस तरह के दृष्टिकोण के प्रति केवल एक ही प्रतिक्रिया है: यह अपने इरादों में प्रजातंत्रीय है पर परिणामों में सर्वाधिकारवादी होगा। 'हर बच्चा सार्वजनिक विद्यालय' में का नारा इतना ही लचर है जितना कि 'हर कैथोलिक बच्चा कैथोलिक स्कूल में' का समानांतर नारा। सांस्कृतिक बहुत्ववाद अमरीकी संस्कृति का एक विशिष्ट पहलू है। संस्कृति के एकात्मक भाव को हमने बहुत पहले ही छोड़ दिया है, और इसके साथ सब संस्कृतियों को घुला-मिलाकर एक बनाने का विचार भी समाप्त हो गया है। ईश्वर न करे कि अमरीका के करोड़ों लोग एक ही साँचे में ढाले जायँ। यह कल्पना करना भी मूर्खता मालूम पड़ती है कि यहूदी, कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, श्वेत, पीले, काले, बाहर से आए और यहीं के मूल निवासी, ये सभी लोग मानो एक बड़े कड़ाह में डाल दिये जायँ

जिसमें वे एक या दो पीढ़ी तक पकते रहे और तब जो खाद्य तैयार हो वह शत-प्रति-शत अमरीकी हो। यह नुस्खा सर्वाधिकारवाद के लिए है न कि सबको अपने अन्दर रखने वाले अमरीकी प्रजातंत्र के सांस्कृतिक बहुत्ववाद के लिए। जहाँ तक ईसाइयों और यहूदियों के अन्तःधर्मक्षेत्रीय विद्यालयों का सम्बन्ध है, हमें इन्हें अमरीकी संस्कृति की स्वतंत्रता का सूचक तथा अभिव्यंजक ही मानना चाहिए। अपने देश के अन्दर सांस्कृतिक विभिन्नता को बनाये रखने का यह एक साधन है, और यह आशा दिलाता है कि इस विभिन्नता से सारी अमरीकी संस्कृति में समृद्धि और सुन्दरता आयेगी।

प्र० सा० संख्या ५

आर्थिक गिरावट से पहले की मिशन की ऊँची योजनाएँ (१९१९)

'इंटर चर्च वर्ल्ड मूवमेंट' का प्रस्ताव है :

(१) हर स्थान और विषय के दृष्टिकोण से चर्च द्वारा किये जाने वाले संसार भर के काम का पूरी तरह विश्लेषण किया जाय जिससे उपेक्षित क्षेत्र का पता चल सके, वर्तमान महत्त्वपूर्ण काम को शक्ति मिल सके, अनौचित्यपूर्ण काम हटाये जा सकें और सभी संस्थाओं और कार्यकर्त्ताओं में सहायतापूर्ण संबंध स्थापित किए जा सकें।

(२) सारे देश का ध्यान खींचने के लिए सुनिश्चित तथ्यों के आधार पर शिक्षा के क्षेत्र में एक लगातार आन्दोलन किया जाय, और, यदि संभव हो तो उन करोड़ों लोगों की सुप्त भावनाओं को जगाया जाय जो संसार की सेवा के लिए ईसा की पुकार से अछूते रह गए हैं।

(३) औद्योगिक सम्बन्ध, परोपकार, धर्मोपदेश, और शिक्षा में चर्च का सहकारी नेतृत्व किया जाय ताकि चर्च इन क्षेत्रों में अपने उत्तरदायित्वों को अच्छी प्रकार निभा सके।

(४) चर्च और मिशन के काम के लिए कार्यकर्त्ताओं को भर्ती करने

का आन्दोलन चलाया जाय।

(५) इस समय की परिस्थितियों द्वारा देश और विदेश में जिस प्रकार के प्रयत्न की माँग की जा रही है उसके लिए पर्याप्त धन इकट्ठा करने की सम्मिलित अपील की जाय।

प्र० सा० संख्या ६

ईसाई जनसाधारण के मिशन के बारे में पुनर्विचार (१९३२)

'विलियम अर्नेस्ट हॉकिंग' की अध्यक्षता में 'लेमैंस फॉरेन मिशन इंक्वायरी' द्वारा स्थापित जाँच कमीशन की १९३२ में 'रिथिंकिंग मिशंस' के नाम से प्रकाशित रिपोर्ट।

हमारा विश्वास है कि अब वह समय आ गया है जब कि मिशन के शैक्षिक तथा अन्य परोपकारी काम को सीधे धर्मोपदेश के संगठित उत्तर-दायित्व से मुक्त कर देना चाहिए। हममें बिना उपदेश किये भी दान देने की क्षमता होनी चाहिए और सामाजिक सुधार के लिए गैर-ईसाई संस्थाओं के साथ सहयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिए, और हम पूर्व की किस प्रकार सहायता करें इस बात को तय करने में पूर्व को ही पहल करने देनी चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि हमें अदृश्य सफलता में ज्यादा विश्वास रखकर काम करना चाहिए। हमारी संस्थाओं की शक्ति बढ़ाए बिना भी यदि ईसाई सेवा की भावना पूर्व में फैल जाय तो इसे भी हमें अपना लाभ ही मानना चाहिए। बिना व्याख्या किये गए प्रतीकों की भाषा से यथासंभव दूर रहने का जनसाधारण का जो विशेषाधिकार है उसका प्रयोग हम ईसाइयत के सन्देश को फैलाने के अपने प्रयत्न में करना चाहते हैं। हम वर्तमान समय में यह आवश्यक समझते हैं कि ईसाइयत आम अनुभव और विचारों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करे। विशेष-कर पूर्व को सम्बोधन करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपनी बात ऐसे शब्दों में कहें जिन्हें ईसाई सिद्धान्तों के इतिहास से पूरी-तरह अपरिचित व्यक्ति भी समझ सकें।

भविष्य में जो मिशनरी बाहर जाएँ उन्हें चाहिए कि वे अपनी मत-वादी विचारधारा यहीं छोड़ कर एक बनी हुई ईसाइयत और विश्वव्यापी चर्च के लिए काम करने जायें। आवश्यकता वास्तव में इससे भी ज्यादा की है। हमें कोई ऐसा रास्ता खोज निकालना चाहिए जिससे विभिन्न सम्प्रदाय अपनी तंग दीवारोंसे बाहर आकर ईसाइयत के विश्वव्यापी प्रसार के लिए सहयोग कर सकें। यह काम देश में भी उतना ही आवश्यक है जितना विदेश में। ईसाइयत को चुनौती देने वाले कामों को पूरा करने के लिए सबकी संमिलित बुद्धिमानी और साधनों की आवश्यकता पड़ेगी। इससे अमरीका का भी उतना ही संबंध है जितना कि उन देशों का जहाँ मिशन का काम हो रहा है। विदेशों में मिशनरियों द्वारा शुरू किया गया कोई भी कार्य तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक अमरीका के चर्च मिलकर इस आध्यात्मिक काम में उनकी सहायता नहीं करते।

हमारी सिफारिश है कि चीन, जापान और अमरीका में सैद्धान्तिक शिक्षालयों की संख्या बहुत कम कर दी जाय और प्रशिक्षण का स्वरूप भी बहुत बदल दिया जाय, ताकि उन व्यावहारिक, सामाजिक और मानवीय कामों पर बल दिया जा सके जो कि एक आत्मिक नेता के सामने वर्त्तमान समय में शहर तथा गाँव के वास्तविक जीवन में सामने आते हैं। इन देशों में जिन व्यक्तियों को आत्मिक नेता बनना है उनके आंतरिक जीवन को और गहरा बनाने के ज्यादा प्रयत्न किये जाने चाहिए। अपने कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षण देने में शिक्षालयों का उद्देश्य ईसाई जीवन के विचार और सेवा के सर्वव्यापी और आधारभूत तत्त्वों को खोजना और प्रस्तुत करना होना चाहिए, और प्रशिक्षण का सम्प्रदायिक पहलू गौण रहना चाहिए।

प्र० सा० संख्या ७

चर्चों के सामाजिक आदर्श (१९३२)

१९१२ की अपनी घोषणा के दुहराव के तौर पर 'फेडरल कौंसिल ऑफ़ चर्चिज' द्वारा प्रकाशित।

१. संपत्ति की प्राप्ति और उपयोग के बारे में सामाजिक भलाई का ईसाई सिद्धान्त व्यवहार में लागू करना। सृजनात्मक और सहकारी भावना को आगे सट्टेबाजी और लाभ के उद्देश्य को दबाना।

२. सबकी भलाई के लिए वित्तव्यवस्था और आर्थिक प्रक्रियाओं का सामाजिक नियोजन और नियंत्रण।

३. आत्म-संपोषण के अवसर के लिए सबका अधिकार; धन का अधिक विस्तृत और न्यायपूर्ण वितरण; कम से कम जीवन-निर्वाह योग्य वेतन, और इसके ऊपर उद्योग और कृषि की पैदावार में श्रमिक का उचित भाग।

४. शहरी और देहाती दोनों प्रकार के श्रमिकों का श्रम की हानि-जनक अवस्थाओं, और काम करते हुए लगनेवाली चोटों और बीमारियों से बचाव।

५. बीमारी, दुर्घटना, बुढ़ापे में अभाव और बेरोज़गारी के लिए सामाजिक बीमा।

६. उद्योग की उत्पादकता में वृद्धि के साथ-साथ श्रम के घंटों में कमी, सप्ताह में कम से कम एक दिन के लिए काम से छुट्टी, आगे और भी छोटे सप्ताह की संभावना।

७. स्त्रियों के काम की दशाओं का ऐसा विशेष नियंत्रण जिसमें उनकी परिवार की और समाज की भलाई का आश्वासन मिल सके।

८. सामूहिक मोलभाव और सामाजिक कार्य करने के लिए संगठित होने का कर्मचारियों और मालिकों का बराबर अधिकार; इस अधिकार के उपयोग में दोनों की सुरक्षा, समाज की भलाई के काम करने का दोनों का उत्तरदायित्व, किसानों तथा अन्य दलों में सहकारी तथा दूसरे संगठनों को प्रोत्साहन।

९. बाल-श्रम का निषेध, हर बच्चे की सुरक्षा, शिक्षा आध्यात्मिक विकास और स्वस्थ मनोरंजन के लिए पर्याप्त व्यवस्था।

१०. पवित्रता के मानदण्ड की दृष्टि से परिवार की सुरक्षा, विवाह,

घर बसाने और पितृत्व के लिए शिक्षा द्वारा तैयारी ।

११. विधि-निर्माण, अर्थ-व्यवस्था, यातायात साधन और किसान के द्वारा खरीदी जानेवाली मशीनरी तथा अन्य सामान की तुलना में कृषि-उत्पादनों के मूल्य-निर्धारण द्वारा उसके साथ न्याय ।

१२. इस समय शहरी आबादी द्वारा लाभ उठाये जाने वाले प्राथमिक सांस्कृतिक अवसरों और सामाजिक सेवाओं का देहाती परिवारों तक विस्तार ।

१३. नशीली चीजों से होनेवाले सामाजिक, आर्थिक और नैतिक अपव्यय से व्यक्ति और समाज का बचाव ।

१४. उद्धार के ईसाई सिद्धान्त को अपराधियों पर भी लागू करना, दंड-व्यवस्था, सुधार के उपाय तथा उनसे संबद्ध संस्थाओं और फौजदारी न्यायालयों की कार्य-विधि में सुधार ।

१५. सबके लिए न्याय, अवसर और समान अधिकार, जातिगत, आर्थिक और धार्मिक दलों में पारस्परिक सद्भाव और सहयोग ।

१६. युद्ध-निषेध, शस्त्रास्त्रों में कमी, सब विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से तय करानेवाली अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ सहयोग; एक सहयोगी विश्व-व्यवस्था का निर्माण ।

१७. स्वतंत्र वाणी, स्वतंत्र सभा और स्वतंत्र प्रेस की मान्यता और उन्हें बनाये रखना; सत्य की खोज के लिए आवश्यक स्वतंत्र बौद्धिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहन ।

प्र० सा० संख्या ८

कैथोलिक सामाजिक कार्य के सिद्धान्त

सामाजिक सिद्धान्तों की यह घोषणा उस बयान का एक अंग है जो रोमन कैथोलिक चर्च के अमरीकी बिशपों ने 'कर्म में ईसाई' विषय पर २० नवम्बर, १९४८ को दिया था ।

मानवीय जीवन ईश्वर में केन्द्रित है । जीवन को ईश्वर में केन्द्रित

न कर सकना ही धर्म-निरपेक्षवाद है---जो कि, जैसा हमने पिछले साल संकेत किया था, हमारे ईसाई और अमरीकी जीवन के ढंग को सबसे भयंकर खतरा है। हम केवल इसकी व्याख्या और बुराई करने के द्वारा ही इस खतरे का सामना नहीं कर सकते। जीवन के पहलू में जहाँ वैयक्तिक मनोवृत्तियाँ नियामक तत्त्व हैं---घर में, विद्यालय में, काम पर और नागरिक राजनीति में---इसके विनाशक प्रभाव को हटाने के लिए रचनात्मक प्रयत्न की आवश्यकता है। क्योंकि जैसा मनुष्य होता है, मानव समाज की सब संस्थाएँ भी वैसी ही बन जाती हैं।

नैतिक नियमों पर आधारित ईसाई सामाजिक सिद्धान्त आर्थिक गति-विधियों के विकास में संघर्ष के बजाय सहयोग और दबाव के बजाय स्वतंत्रता की माँग करते हैं। सहयोग भी संगठित होना चाहिए---सबकी भलाई के लिए संगठित; स्वतंत्रता व्यवस्थित होनी चाहिए---सबकी भलाई के लिए व्यवस्थित।

आज श्रम का आंशिक संगठन है---लेकिन सब अपने स्वार्थ के लिए। शायद कुछ बड़े पैमाने पर पूंजी और प्रबंध का भी संगठन है---लेकिन वह भी अपने स्वार्थ के लिए। सामाजिक व्यवस्था के ईसाई दृष्टिकोण से हमें जिस चीज़ की तुरंत आवश्यकता है वह है सामान्य हित के लिए बनायी गई पूंजी और श्रम की स्थायी सहयोग संस्थाएँ। यह देखने के लिए कि यह संगठन सामान्य हित के अपने उद्देश्य को भूल न जाय, सार्वजनिक हित की जिम्मेदार रक्षक के तौर पर सरकार का भी इसमें भाग होना चाहिए। लेकिन यह भाग प्रेरणा देने, मार्ग दिखाने और नियंत्रण करने का होना चाहिए, न कि सब पर छा जाने का। यह पूरी तरह हमारे संघीय संविधान के अनुकूल है जो सरकार को न केवल 'न्याय स्थापित करने' का अपितु 'सबके हित को बढ़ाने' का अधिकार देता है।

आर्थिक जीवन के संगठित विकास के लिए कैथोलिक सामाजिक दर्शन के पास एक रचनात्मक कार्यक्रम है। लुई तेरहवें द्वारा बनाये गए सामाजिक सिद्धान्तों को पुनः स्थापित करते हुए पोप पायस ग्यारहवें ने

इस कार्यक्रम की मोटी रूपरेखा १७ वर्ष पहले सामने रखी थी। उस रचनात्मक कार्यक्रम के अनुसार हम प्रत्येक उद्योग और सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में पूंजी और श्रम के अधिकृत प्रतिनिधियों के बीच स्वतंत्र रूप से संगठित सहयोग की वकालत करते हैं। इस पर सरकार का निरीक्षण तो रहना चाहिए पर नियंत्रण नहीं।

स्वतंत्र रूप से संगठित सहयोग की इन एजेंसियों को व्यावसायिक समूह या उद्योग परिषद् आदि विभिन्न नाम दिये गए हैं। सामाजिक 'एन्साइक्लिकल्स' (प्रचार-पत्र) के अमरीकी कैथोलिक छात्रों ने इन्हें उद्योग परिषद् कहना पसन्द किया है और वे चाहते हैं कि हमारी आर्थिक व्यवस्था आर्थिक प्रजातंत्र के इसी ईसाई-अमरीकी रूप की ओर विकसित हो। यह विकास तभी संभव है जब अथक परिश्रम और अध्ययन द्वारा, न्याय और परोपकार की भावना के साथ, सम्पत्ति के न्याय-संगत हितों और श्रम के न्याय-संगत हितों की रक्षा की जाय ताकि सबकी भलाई हो सके।

प्र० सा०संख्या ९

'जेहोवाज़् विटनेस' का भविष्यवाणी पूर्ण निर्णय

'रिलिजन इन दि ट्वेण्टिएथ सेंचुरी' में प्रकाशित 'जेहोवाज विटनेस इन माडर्न टाइम्स' के शीर्षक से दिये गए नेता एन० एच० नौर के बयान से लिया गया; सम्पादक वर्घिलियस फर्म (१९४८) पृ० ३८९।

यह धर्म-युद्ध कोई पार्थिव सेनाओं और सिद्धान्तों के बीच का संघर्ष नहीं है, अपितु यह एक ऐसा संघर्ष होगा जिसमें स्वर्ग की अदृश्य सेनाएँ आकर लड़ेंगी। अन्त में जेहोवा ईश्वर और उसके राजा ईसा मसीह की विजय होगी, शैतान और उसके दैत्यों का नाश होगा, पृथ्वी से सारी बुराइयों और बुरे लोगों का सफाया हो जायगा और सब जगह जेहोवा के नाम का प्रतिपादन (जकारिया १४:३, १२; रिवीलेशन १९ : ११—२१, २० : १—३)। जेहोवा ईश्वर इस समय मनुष्यों को पृथ्वी

पर अपने साक्षी द्वारा आने वाले संघर्ष की चेतावनी दे रहा है ताकि ईश्वर के प्रति सद्भाव रखनेवाले लोग ध्यान दें और ईश्वर के संगठन की सुरक्षा के भीतर बचाये जा सकें। ऊपर की बात से पता चलता है कि जेहोवा के साक्षियों के विश्वासों और आम संगठित धर्म में कितनी बड़ी खाई है। इसका एक मात्र हल ईसा का राज्य है, इस बात की जेहोवा के साक्षी घोषणा करते हैं। और स्थायी शांति के लिए मार्ग दिखाने की सच्ची इच्छा से सदा घोषणा करते रहेंगे। संसार के नेताओं को यह उपाय मूर्खतापूर्ण मालूम देता है, और धर्मदूत पाल ने कहा था कि यह 'उपदेश देने की मूर्खता' जैसा लगेगा लेकिन मनुष्य की बुद्धिमानी ईश्वर की दृष्टि में मूर्खता है।

प्र० सा० संख्या १०

'पवित्र पिता' से एक श्रुति

'पवित्र पिता शान्ति-मिशन' के प्रकाशन से ग्रहीत जिसका नाम है 'दि न्यू डे' (१४ अक्तूबर १९४४) और चार्ल्स एस० ब्रैडन द्वारा—'ये भी विश्वास करते हैं' (दीज आल्सो बिलीव)—१९४०, पृ० ४३ से उद्धृत।

हे संसार, सुन ! हम तुझे जताना चाहते हैं कि पवित्र पिता वह
ईश्वर है जिसकी पूजा हम करते हैं। उसने स्वर्ग और धरती की
सृष्टि की, उसने ही आध्यात्मिक जीवन को जन्म दिया,
तो फिर पास खड़े आलोचना क्यों करें—
उसकी जो तुम्हारी अन्धी आँखों को खोल सकता है ?
सुनो ! ठहरो और समझो।
कि तुम्हारा भगवान यहीं है; आकाश में नहीं।
उपदेशक महोदय ! हम जानते हैं कि इससे तुम्हें चोट पहुँचती है।

पर आप जानते हैं, भगवान आपके द्वारा चर्च को खिलवाड़ बनाये जाने से तंग आ चुके हैं।

वह यहाँ आपको उच्च भावपूर्ण शब्दों में यह दिखाने को तैयार हैं
और इसीलिए आप में विद्वेषाग्नि धधक उठी है ।
किंतु पिता करुणाकर है, यदि आप कबूल करें
कि आपने ग़रीब को कैसे लूटा है, उसकी उन्नति कैसे रोकी है;
क्योंकि भूख के कारण मनुष्य चोरी करता है
पर आपका समय समाप्त हो चुका, क्योंकि भगवान प्रकट हो चुका है।

प्र० सा० संख्या ११

लाइमैन ऐबट के अनुसार आधुनिकवादी सन्देश

उसके 'थियोलौजी ऑफ एन इवोल्यूशनिस्ट' (१९९७) से लिया गया ।

मनुष्य की आत्मा के अन्दर ईश्वर के निवास के रूप में धर्म को उन दर्शनों द्वारा ज्यादा अच्छी तरह समझा और बढ़ाया जायगा जो यह मानें कि सारा जीवन दिव्य है, और धर्म एक विधि है जिसके द्वारा ईश्वर कुछ निश्चित नियमों के अनुसार और एक स्थायी शक्ति के द्वारा सतत और प्रगतिशील परिवर्तन लाता है । इसके विपरीत जो दर्शन यह मानते हैं कि कुछ चीज़ें तो प्राकृतिक नियमों के अनुसार प्राकृतिक शक्तियों द्वारा की जाती हैं और कुछ दिव्य इच्छा के विशेष दखल के द्वारा, वे धर्म के सच्चे स्वरूप को नहीं समझ सकेंगे ।

नई आलोचना को क्रांतिकारी मानने में पुराना रूढ़िवाद ग़लती नहीं कर रहा है । बाइबिल के लिए यह उतना ही क्रांतिकारी है जितना चर्च के लिए प्रोटेस्टेंट सुधार था । कभी न छूटनेवाला अधिकार अवांछनीय है । ईश्वर ने अपने बच्चों को यह नहीं दिया । उसने उन्हें जीवन के रूप में कहीं ज्यादा अच्छी चीज़ दी है । वह जीवन-संघर्ष के द्वारा ही मिल सकता है । पुण्य की तरह सत्य के पास भी जाने का छोटा रास्ता नहीं है । यह जीवन हमें संघर्ष से बचने के लिए नहीं अपितु संघर्ष के करने के लिए दिया गया है ताकि हम बढ़ सकें ।

जब हम ईसा के जीवन द्वारा बचाये जाते हैं तो ईसा का ख़ून ही हमें बचा रहा होता है। ईसा का जीवन ही हमें मिल जाता है। और ईसा का जीवन हमें ऐसे ही मिलता है जैसे कि जीवन मिल सकता है—दुःख और दर्द के द्वार में से होकर। ईसामसीह के जीवन में दुःख कोई एक घंटे या एकाध साल की घटना नहीं थी। ईसा के दुःख उठाने से यह शाश्वत तथ्य स्पष्ट होता है कि अनन्तकाल से ईश्वर ही जीवन का देने वाला है, और इस जीवन-दान का कुछ मूल्य ईश्वर को देना पड़ता है और कुछ हमें। विकासवाद हमें सिखाता है कि जीवन का कुछ मूल्य है, और औरों को जीवन देना ही वृद्धि का रहस्य है। बाइबिल में इसी को प्रतिनिहित बलिदान के नाम से कहा गया है। यह मान कर ही ईसाई मजहब इस बात में विश्वास करता है कि ईसा ने अपनी मृत्यु के बाद अपने शिष्यों को दर्शन दिये ताकि वे मान सकें कि हर मृत्यु के बाद आत्मा का पुनरुद्धार होता है।

इसलिए मेरा विश्वास है कि प्रकृति के अध्ययन द्वारा प्राकृतिक विज्ञान ने जीवन के जिन महान नियमों को पता किया है, उनमें और आध्यात्मिक जीवन के नियमों में बहुत ज्यादा सादृश्य है।

प्र० सा० संख्या १२

सुधारवादी यहूदी धर्म के अनुसार आधुनिकवाद

१८८५ के 'पिट्सबर्ग प्लेटफार्म' की धारा २ तथा ६

हम यह स्वीकार करते हैं कि हर धर्म में उस अनन्त की थाह लेने का प्रयत्न किया गया है, और हर धर्म के पवित्र इलहाम के केन्द्र या पुस्तक में मनुष्य के अन्दर रहनेवाले ईश्वर की चेतना झलकती है। हम यह मानते हैं कि पवित्र धर्मग्रन्थों में पाये जानेवाले ईश्वर के विचार का उच्चतम रूप यहूदी धर्म में पाया जाता है। अपने-अपने युग की नैतिक और दार्शनिक प्रगति के अनुसार यहूदी शिक्षकों ने इसका विकास किया है और इसे आध्यात्मिक बनाया है। हम यह मानते हैं कि सतत संघर्षों और परी-

क्षाओं के बीच में यहूदी धर्म ने मानव जाति के लिए केन्द्रीय धार्मिक सत्य के रूप में इस ईश्वर के भाव की रक्षा की है।

हमारी मान्यता है कि यहूदी धर्म प्रगतिवादी है, और यह हमेशा तर्क के सिद्धान्तों के अनुसार रहने का प्रयत्न करता है। अपने महान् अतीत के साथ अपनी ऐतिहासिक एकात्मकता को बनाये रखने की आवश्यकता में हमें पूरा विश्वास है। ईसाइयत और इसलाम यहूदी धर्म की सन्तानें हैं और उन्होंने एकेश्वरवाद और नैतिक सत्य को फैलाने में जो कार्य किया है उसकी हम सराहना करते हैं। हम स्वीकार करते हैं कि अपने उद्देश्य की पूर्ति में विशाल मानवता की भावना ही हमारी सहायक होगी, इसलिए उन सबके प्रति हम अपनी मित्रता का हाथ बढ़ाते हैं जो मनुष्यों के बीच सत्य और पवित्रता का राज्य स्थापित करने में हमारा सहयोग कर रहे हैं।

प्र० सा० संख्या १३

ईसाई सुधारवाद का सार

चार्ल्स ई० जेफर्सन के 'थिंग्स फंडामेंटल' (१९०३) से उद्धृत

वह श्रद्धा कौन-सी है जिसकी माँग चर्च कर रहे हैं? वह श्रद्धा कौन-सी है जिसका समर्थन 'न्यू टेस्टामेंट' में किया गया है? सौभाग्य से हिब्रुओं के लिए लिखे गए पत्र के ग्यारहवें अध्याय के पहले छन्द में हमें इसकी यह परिभाषा मिलती है: "श्रद्धा आशा की जाने वाली चीजों का सार है।" ईसा मसीह में विश्वास ही ईसाई श्रद्धा है। उसमें विश्वास करने का मतलब है यह आशा करना कि वह जो कुछ कहता है उसे कर सकता है। वह कहता है कि वह मनुष्यों को उनके पाप से बचा सकता है। वह कहता है कि मनुष्य उसका अनुसरण कर सकते हैं और उसके जैसे बन सकते हैं।

और अब प्रश्न उठता है: क्या मनुष्य उसके जैसा बनने की आशा कर सकता है? क्या कोई मनुष्य उस बुद्धि को पाने की आशा कर सकता

है जो ईसा में थी? क्या कोई मनुष्य उसकी आत्मा, उसकी प्रवृत्ति, उसका स्वभाव पाने की आशा कर सकता है? क्या कोई मनुष्य श्रद्धापूर्ण, पुत्रानुरूप दिव्य जीवन व्यतीत करने की आशा कर सकता है? अगर वह ऐसी आशा नहीं करता तो इसका कारण है कि वह नैतिक रूप से विकृत हो गया है और अभीप्सा करने की उसकी शक्ति नष्ट हो गई है। वह प्रकाश के बजाय अंधकार को ज्यादा प्यार करता है। और यह उसके पापमय कर्मों का ही परिणाम है। आशा न करनेवाला व्यक्ति अपनी भर्त्सना आप कर रहा होता है। और यदि सब मनुष्यों के लिए यह संभव है कि वे ईसा जैसा बनने की आशा कर सकें, तो यह भी संभव है कि वे, कम या ज्यादा अनुपात में, उन कामों को कर सकें जिनकी वे आशा करते हैं। वह एकदम उन तरीकों से काम करने लग सकता है जिनसे उसकी आशाएँ पूरी हो सकें। अच्छे जीवन का जो मार्ग उसे दिखाया गया है उस पर वह सशक्त कर्म द्वारा चलकर सफल हो सकता है। इस प्रकार श्रद्धा में दो तत्त्व हैं: आशा, सशक्त कर्म, और ये दोनों ही तत्त्व मानवीय संकल्प के अधीन हैं। हम आशा कर सकते हैं, और कम या अधिक सफलता के साथ, आशा को मूर्त रूप भी दे सकते हैं। और हर मनुष्य जो आशा करता है और उसे मूर्त रूप देता है, श्रद्धा का मनुष्य है।

प्र० सा० संख्या १४

धर्म-व्यवस्थापकों और धर्म-शास्त्र के विद्यार्थियों के धर्म-विज्ञानीय विश्वासों की तुलना

ये वे प्रश्न हैं जो धर्म-व्यवस्थापकों और धर्म-शास्त्र के विद्यार्थियों से किये उन छप्पन प्रश्नों में से चुने गये हैं जो जार्ज हर्बर्ट बेट्स द्वारा किये गए थे। उनके परिणाम सूचीबद्ध किये जाकर दो सारणियों में 'सात सौ धर्म-व्यवस्थापकों के विश्वास' नामक पुस्तक में (अबिगडन प्रेस, १९२९) में तालिका १ और ४, पृ० २६-३० और ५२-५६ में प्रकाशित किये गए थे।

इसकी व्याख्या पृष्ठ २५ पर इस प्रकार दी गई है : "५०० धर्म-व्यवस्थापकों के पहले दल में संख्याओं का विभाजन इस प्रकार था—बैपटिस्ट ५०, लूथरन १०५, मैथोडिस्ट १११, प्रैस्बिटेरियन ६३, और अन्य सभी पंथों को मिलाकर ४३। नामों और संस्थाओं की संभावित परेशानी से बचने के लिए धर्म-शास्त्रीय विद्यालयों और उनके सम्प्रदायों के नाम यहाँ नहीं दिये गये हैं।

इन तालिकाओं को यहाँ मि० हार्लेन सी० बेट्स की अनुमति से प्रकाशित किया जा रहा है जिनके पास इस सामग्री का प्रकाशनाधिकार है। क्या आपको विश्वास है :

	५०० धर्म-व्यवस्थापकों का प्रतिशतक			५०० विद्यार्थियों का प्रतिशतक		
	हाँ	?	नहीं	हाँ	?	नहीं
२. भगवान तीन विभिन्न व्यक्तित्वों का एक रूप है ?	८०	७	१३	४४	२१	३५
७. सृष्टि-रचना के इतिहास के अनुसार संसार का उद्भव 'जेनेसिस' में उल्लिखित ढंग और समय पर हुआ ?	४७	५	४८	५	६	८९
१०. भगवान कभी-कभी विधान को दूर हटा देते हैं, और इस प्रकार चमत्कार दिखाते हैं ?	६८	८	२४	२४	१६	६०
१२. शैतान का अस्तित्व वास्तविक प्राणी के रूप में है ?	६०	७	३३	९	९	८२
२०. बाइबिल लिखने में जो प्रेरणा हुई वह अन्य बड़े धर्म-ग्रंथों की प्रेरणा से भिन्न है ?	७०	५	२५	२६	६	६८

	हाँ	?	नहीं	हाँ	?	नहीं
२२. बाइबिल लोककथा या पौराणिक कथाओं से बिल्कुल मुक्त है ?	३८	५	५५	४	१	९५
२३. अन्य साहित्यों और इतिहास की आलोचना और मूल्यांकन-सिद्धान्त बाइबिल पर लागू होना चाहिए ?	६७	५	२८	८८	५	७
२४. न्यू टेस्टामेंट निश्चित और निर्भ्रान्त मानदंड है जिससे सभी धर्मों, पंथों या मानवीय विश्वासों की सचाई और अखंडनीयता का निर्णय किया जा सकता है ?	७७	३	२०	३३	१२	५५
२६. ईसा का जन्म कुमारी से पुरुष पिता के संसर्ग बिना हुआ था ?	७१	१०	१९	२५	२४	५१
३२. धरती पर रहते हुए ईसा में वह शक्ति थी कि वे मृतकों को जीवित कर देते थे ?	८२	९	९	४५	२८	२७
३४. ईसा मरने और दफ़न होने के बाद फिर सचमुच उठ बैठे और कब्र खाली हो गई ?	८४	४	१२	४२	२७	३१
३७. स्वर्ग वास्तविक स्थान के रूप में स्थित है ?	५७	१५	२८	११	२०	६९
३८. नरक वास्तविक स्थान के रूप में स्थित है ?	५३	१३	३४	११	१३	७६
३९. मृत्यु के बाद जीवन जारी रहता है ?	९७	२	१	८९	७	४

	हाँ	?	नहीं	हाँ	?	नहीं
४०. इस शरीर के पुनरुत्थान के रूप में ?	६२	५	३३	१८	१३	६९
४४. धरती पर रहनेवाले सभी प्राणियों के लिए निर्णय का एक अन्तिम दिन होगा ?	६०	८	३२	१७	१६	७७
४९. सभी मनुष्य आदम की सन्तान होने के कारण ऐसे स्वभाव के साथ पैदा हुए हैं जो बिल्कुल विपरीत और भ्रष्ट है ?	५३	४	४३	१३	७	८०
५०. प्रार्थना में वह शक्ति है जो प्रकृति की दशा में परिवर्तन कर सकती है---जैसे अनावृष्टि में ?	६४	११	२५	२१	२२	५७
५१. दूसरों के लिए प्रार्थना करने पर उनके जीवन पर असर पड़ता है; चाहे वे यह जानें या नहीं कि उनके लिए प्रार्थना की जा रही है।	८३	९	८	५८	२५	१७
५२. भगवान पवित्रात्मा व्यक्तियों के माध्यम द्वारा मानव जीवन पर प्रभाव डालता है ?	९४	१	५	८२	११	७
५६. व्यक्तिगत विश्वास और सम्प्रदाय कुछ भी हो जो व्यक्ति ईश्वर को प्रेम करते हैं और मनुष्यों के साथ उचित व्यवहार करते हैं वे ईसाई चर्च में स्वीकार किये जाने के लायक हैं।	५६	५	३९	८५	४	११

प्र० सा० संख्या १५

प्रेज़ीडेंट इलियट का प्राधिकारवाद पर आक्रमण

'थियाँलोजी एट दि डॉन ऑफ् दि ट्वेन्टिएथ सेंचुरी' (१९०१) में चार्ल्स इलियट के लेख पर आधारित

पिछली शताब्दी में न केवल बाइबिल की प्राधिकारिता (अथारिटी) में कमी हुई है, अपितु राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षिक और घरेलू सभी प्रकार की प्राधिकारिता की शक्ति कम हो गई है। अवनत होती हुई प्राधिकारिताओं का स्थान कौन ले रहा है? मेरे विचार से संसार में बहुत अधिक प्राधिकारिता की सत्ता रही है जब कि स्वतंत्रता और प्रेम अपर्याप्त रहे हैं। पिछली शताब्दी में एक प्रकार की प्राधिकारिता का प्रभाव बढ़ता रहा है और यह है विकसित होते हुए सामाजिक भाव की प्राधिकारिता।

वैयक्तिक मुक्ति के उद्देश्य को जिसपर कि व्यवस्थित धर्म-शास्त्र ने शताब्दियों तक इतना बल दिया था, समाज-शास्त्र ने छोड़ दिया है। वास्तव में यह उद्देश्य एक स्वार्थपूर्ण उद्देश्य ही है, चाहे यह इस लोक के बारे में हो या परलोक के। हमारे छोटे-से पार्थिव जीवन के लिए इसका जो भी महत्त्व है उससे बढ़कर इसका महत्त्व अनंत जीवन के लिए नहीं हो सकता। समाज-शास्त्र ने यह समझ लिया है कि अब आम जनता को इस संसार में दुःख सहने के लिए इस बात के झूठे प्रलोभन देकर तैयार नहीं किया जा सकता कि उन्हें अगले संसार में बहुत-से सुख मिलेंगे। जब लोग इस संसार के सुखों की ज़ोर-ज़ोर से माँग करने लगते हैं तो समाज-शास्त्र की पूरी सहानुभूति उनके साथ होती है। अब तो जन-साधारण भी यह समझने लगे हैं कि इस संसार में उनकी दरिद्रता उन्हें इस लोक या परलोक के अच्छे आनन्दों का उपभोग करने के लिए बड़ी आसानी से अयोग्य बना सकती है; क्योंकि इस दरिद्रता से उन मानसिक तथा नैतिक क्षमताओं का विकास रुक जाता है जिनके द्वारा उच्च

आनन्द की प्राप्ति होती है। आजकल का समाज-शास्त्र उस देवदूत की तरह सोचता है जो कि अपने एक हाथ में मशाल और दूसरे में पानी से भरा एक बरतन लेकर चला था, ताकि एक से वह स्वर्ग को जला सके और दूसरे से वह नरक की आग बुझा सके, और इस तरह मनुष्यों को न तो स्वर्ग की आशा रहे और न नरक का डर।

प्र० सा० संख्या १६

आधुनिकवाद के परे फॉस्डिक के विचार

अपने 'रिवर साइड चर्च' में दिये गये एक बहुप्रचारित तथा 'क्रिश्चियन सेंचुरी' में ४ दिसम्बर को प्रकाशित एक आत्मस्वीकारात्मक उपदेश में उदारवादियों के प्रसिद्ध नेता हैरी एमर्सन फॉस्डिक ने यह माना था कि एक आधुनिकवादी धर्म-शास्त्र संसार के संकट का सामना करने के लिए अपर्याप्त था। अपने उदारवाद को छोड़े बिना वह उन लोगों के दल में शामिल हो गया जो कि अधिक निश्चित तथा स्पष्ट ईसाई सन्देश की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे।

क्योंकि मैं एक आधुनिकवादी रहा हूँ और अब भी हूँ, इसलिए यह उचित ही है कि मैं यह स्वीकार कर लूं कि मानव केन्द्रित संस्कृति के साथ अपना संबंध बैठाने के लिए आधुनिकवादी आन्दोलन ने ईश्वर के विचार को बहुत हल्का कर दिया है। उसके अनुयायी प्राचीन एथेलियन लोगों के समान मानो एक ऐसे ईश्वर की पूजा के लिए वेदी पर खड़े हैं जिससे वे अपरिचित हैं। इस बात पर चर्च को आधुनिकवाद से आगे जाना पड़ेगा। इस वाद ने मनुष्यों को बहुत लंबे समय तक सब कुछ देने का प्रयत्न किया है। हमने अपने आप को काफी बदला है और दूसरों से समझौता भी किया है। कभी-कभी हम इतना झुक गये हैं कि हमारी बातों से ऐसा लगने लगा कि मानो ईश्वर की प्रशंसा में सबसे ऊँची बात यही कही जा सकती थी कि कुछ वैज्ञानिक उसमें विश्वास करते हैं। फिर भी इस सारे समय में हमारा एक स्वतंत्र आधार और

अपना सन्देश रहा है जिसके अनुसरण में ही मानव जाति की एकमात्र आशा है ।

प्र० सा० संख्या १७

युवा अमरीकी साधुओं के लिए प्रार्थना

प्रोटेस्टेंट एपिस्कोपल चर्च की भजनावली से गृहीत

मैं भगवद्भक्त संतों का भजन गाता हूँ
जो धैर्यवान, शूर और सच्चे हैं,
जो श्रमपूर्वक लड़े और जिये-मरे
केवल उस ईश्वर के लिए जिसे वे प्रेम करते और जानते थे ।
इन संतों में—एक था चिकित्सक और एक थी रानी,
और एक हरियाली में भेड़ें चरानेवाली थी
वे सभी भगवान के भक्त थे—अर्थात्
भगवान की सहायता से एक भी होनेवाले थे ।

... ...

वे बहुत दिनों पहले नहीं थे,
फिर भी लाखों बरस होने आये,
संसार इन आनन्दी संतों से प्रकाशित है
जो ईशू की इच्छानुसार प्रेमपूर्वक आचरण करते हैं ।
आप उन्हें विद्यालय में मिल सकते हैं, गलियों में या समुद्र में,
चर्चों में, गाड़ियों में, दुकानों में या चायघर में,
क्योंकि भगवद्भक्त संत मेरी ही तरह हैं,
और मैं भी वैसा होना चाहता हूँ ।

प्र० सा० संख्या १८

एक मैथाडिस्ट पादरी द्वारा पूजा में 'कॉपर निकन (पूर्ण) क्रांति, की घोषणा

फ्लायड एस० कैनो की पुस्तक 'दि रिलिजन ऑफ़ ह्यूमन प्रोग्रेस' (१९४०) से उद्धृत

धर्म अपनी प्रकृति में एक कला है। इसका संबंध भी सृजनशीलता से है। इस सृजनशील जीवन के विभिन्न रूप सामने आते हैं और इसका सच्चा मूल्य संस्थाओं और कृत्यों के साथ जुड़ता चला जाता है। मनुष्य के सृजनशील मन और आत्मा के एक स्वरूप के तौर पर जब धर्म को देखा जाता है तो इसके ढाँचों और कृत्यों पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। एक बार जब धार्मिक संस्थाएँ संस्कृति के दायरे में आ जाती हैं तो धर्म पूरी तरह से सांस्कृतिक परिवर्तनों के सिद्धान्तों के अधीन हो जाता है।

इसलिए एक प्रकार से धर्म का अध्ययन भी उसी आलोचनात्मक दृष्टिकोण से होना चाहिए जिससे कला का होता है। इसको पैदा करने वाली संस्कृति के प्रसंग में ही इसे समझना और आँकना चाहिए। जहाँ तक धर्म का संबंध प्रेरक आदर्शों और जीवन के सामाजिक उद्देश्यों से है, उसका मूल्य उस संस्कृति की सफलता से आँकना चाहिए जिसका यह महत्त्वपूर्ण अंग है।

अब तो एक वैज्ञानिक तथा प्रजातंत्रीय संस्कृति में निहित मानवीय मूल्यों की पूर्ण प्राप्ति की ओर मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को चेतन और सशक्त दिशा देना धर्म का ही कार्य हो गया है।...यह बात पूरी तरह से स्वीकार की जाती है कि इस तरह के दृष्टिकोण का मतलब संस्थागत धर्म में एक 'कॉपर निकन' क्रांति लाना होगा। तो भी हम यह नहीं मानते कि इस दृष्टिकोण और इसके आधार पर किये गये धार्मिक पुनर्निर्माण का मतलब धर्म के गहरे जीवन से संबंध तोड़ना है। इस प्रकार की खोज

के लिए मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति को जगाने से ज्ञान तथा प्रेरणा दोनों ही प्राप्त होती हैं ।

प्र० सा० संख्या १९

विलियम जेम्स द्वारा आधुनिकवादी तपस्या की सिफ़ारिश

उसकी पुस्तक 'वेरायटीज ऑफ़ रिलिजस एक्सपीरिएंस' (पृष्ठ ३६४-३६९) से उद्धृत । इस उद्धरण का संबंध साम्राज्यवादी युद्ध पर उसके विचारों से है ।

यद्यपि बुद्धि द्वारा क्रूस की नादानी की व्याख्या नहीं की जा सकती, तो भी इसका एक अक्षुण्ण और सशक्त अर्थ है । पहले समय के कम बुद्धि वाले लोगों ने इसको चाहे कितना ही तोड़ा-मरोड़ा हो, तो भी मेरा विचार है कि तपस्या का संबंध सत्ता के वरदान को उपयोग में लाने के गंभीर तरीकों के साथ मानना चाहिए। इसकी तुलना में प्रकृतिवादी आशावाद शब्दाडंबर-पूर्ण तथा सारहीन प्रतीत होता है । धार्मिक व्यक्तियों के रूप में हमारा काम तपस्वीपन की प्रवृत्ति की ओर से पीठ मोड़ लेने से नहीं चलेगा ; जैसा कि आजकल हममें से कुछ कर रहे हैं, अपितु हमें इसके लिए कोई मार्ग खोजना होगा ताकि कष्ट और कठिनाइयों के रूप में उसके परिणाम वस्तुगत रूप से उपयोगी बन सकें । आज जिस भौतिकवादी विलास और संपत्ति की पूजा की जा रही है और जो हमारे युग की भावना का इतना बड़ा अंग बन गई है क्या उससे कुछ स्त्रैणता नहीं आती जा रही है ? जिस प्रकार के लाड़-प्यार में हमारे बच्चे पल रहे हैं––जो कि सौ वर्ष पहले के, विशेषकर धार्मिक क्षेत्रों की शिक्षा से भिन्न है––क्या उससे सारे लाभों के बावजूद, यह खतरा नहीं है कि वह हमारी नसल में एक प्रकार का कच्चापन ले आयेगा। आपमें से बहुत-से ऐसे खतरों को स्वीकार करेंगे, लेकिन वे खेल-कूद, सैनिक-शिक्षा और व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय साहसिक कार्यों को इसका इलाज बतायेंगे ।

आजकल ताप के यांत्रिक तुल्यांग के बारे में बहुत कुछ सुनाई पड़ता

है। हमें सामाजिक क्षेत्र में युद्ध का नैतिक तुल्यांग खोजना है। यह कोई ऐसी वीरतापूर्ण चीज़ होनी चाहिए जो मनुष्यों को युद्ध की तरह व्यापक सन्देश दे सके, और फिर भी इसका मेल उनकी आध्यात्मिक चेतना के साथ भली प्रकार बैठ सके। मैंने कई बार सोचा है कि भिक्षुओं की तरह पुरानी निर्धनता की पूजा में युद्ध के नैतिक तुल्यांग जैसी कोई चीज़ मिल सकती, जिसे हम खोज रहे हैं। क्या कमज़ोर लोगों को कुचलने की आवश्यकता हट नहीं सकती और क्या निर्धनता को स्वेच्छा से स्वीकार किया हुआ 'कठोर जीवन' नहीं माना जा सकता।

निर्धनता वास्तव में कठोर जीवन ही है, यद्यपि इसमें सेनाओं के से बाजे तथा पोशाकें नहीं होतीं और न इस पर भारी भीड़ की तालियाँ ही पिटती हैं। लेकिन जिस प्रकार धन प्राप्त करना एक आदर्श के रूप में हमारी पीढ़ी की मज्जा में घुसता चला जा रहा है उसे देखकर यह विचार अवश्य आता है कि निर्धनता में विश्वास को फिर से जगाने की आवश्यकता है; इसी के द्वारा सैनिक साहस को वह आध्यात्मिक स्वरूप मिल सकेगा जिसकी हमारे समय को सबसे अधिक आवश्यकता है।...

सोचिए तो सही कि यदि हम अपनी व्यक्तिगत निर्धनता की ओर से उदासीन होकर अपने आप को कुछ अलोकप्रिय कामों की ओर लगाएँ तो हमें कितनी शक्ति मिलेगी। फिर हमें अपनी आवाज़ दबाकर रखने की आवश्यकता नहीं रहेगी, और न किसी क्रांतिकारी या सुधारवादी व्यक्ति को अपना मत देते हुए डर लगेगा। हमारा कोश क्षीण हो जाये, उन्नति की हमारी आशाएँ मिट जाएँ, हमारा वेतन रुक जाये, हमारे क्लब के दरवाजे हमारे लिए बन्द हो जाएँ, तो भी जबतक हम रहेंगे एक अविचल आत्मिक शक्ति हमारे अन्दर होगी, और हमारे उदाहरण से हमारी पीढ़ी के स्वतंत्र होने में सहायता मिलेगी। कार्य के लिए धन की आवश्यकता अवश्य होगी, लेकिन इसके सेवक के रूप में हम उतने ही समर्थ होंगे जितने कि अपनी गरीबी से हम सन्तुष्ट होंगे।

मैं इस बात पर गंभीर विचार करने की आपसे सिफ़ारिश करता

हूँ, क्योंकि यह निश्चित है कि हमारे शिक्षित वर्ग के बीच में विद्यमान गरीबी का डर हमारी सभ्यता की सबसे बुरी नैतिक बीमारी है।

प्र० सा० संख्या २०

आध्यात्मिक शक्ति और गुप्त ज्ञान

'दि टैम्पल आर्टीज़न' (१९४९ और १९५१) में से कहीं-कहीं से संगृहीत

"ईश्वर ही अपना पवित्र मन्दिर है सारी पृथ्वी उसके सामने मौन रहे।"

कई शताब्दियों से असंख्य चर्चों की प्रार्थनाओं के प्रारंभ में ये शब्द ईसाई धर्म के अनुयायियों द्वारा बोले जाते रहे हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि इन शब्दों को बोलने वाले पादरियों में से कितने उनकी सही ढंग से व्याख्या कर पाये? ... यह प्रकट विश्व ही वस्तुतः मन्दिर है; लेकिन इसके छोटे भेदों में पदार्थ का प्रत्येक अणु, शक्ति और चेतना का भी समावेश होता है, प्रत्येक जीवित वस्तु या प्राणी हमारे अन्दर रहने वाली ईश्वर की आत्मा का छोटा मन्दिर है। केवल मौन में, प्रत्येक पवित्र मन्दिर के अन्तरतम भाग में ही ईश्वर अपनी आत्मा को प्रकट कर सकता है; और एक संगठन के रूप में मन्दिर के गुह्य, पवित्र मौन में ही उसके किसी सदस्य को उसकी भव्यता, शक्ति और महिमा का भाव पाने की आशा हो सकती है। १८९८ में इस पृथ्वी पर के सम्पूर्ण जीवन के लिए एक अवतार का प्रादुर्भाव हुआ। सृष्टि-चक्र की आवश्यकता के कारण 'रेड रे' के शासक मास्टर हिलेरियन ने ६ अन्य दीक्षित व्यक्तियों की सहायता से 'दि टैम्पल ऑफ दि पीपुल' का केन्द्र स्थापित किया। सृष्टि-चक्र में कुछ कारण ऐसे हैं जिनसे यह मन्दिर लगातार एक हृदय केन्द्र के रूप में कार्य करेगा; इसके द्वारा ही बड़े बड़े संगठनों में पुनर्निर्माण का बीज बोया जायेगा।...

अमरीका एक नयी जाति का पालना है, कैलीफोर्निया इस जाति की पहली मातृभूमि है और आने वाली जाति का मक्का 'लॉज

सेण्टर' है।

आजकल जो विभिन्न प्रकार की शक्तियों में पारस्परिक संघर्ष दिखाई दे रहा है, उनके बीच एक नई प्रकार की अवतारी शक्ति प्रकट हुई है—यह शक्ति ब्रह्माण्डीय और मानववादी, घाव भरनेवाली तथा प्रकाश देने-वाली, अवैयक्तिक तथा एक बनाने वाली है... वर्त्तमान चक्र में मनुष्य जाति को परेशान करने वाली शक्तियों के अनेक रूप हैं जिनका अन्ततो-गत्वा संबंध कर्म और कलियुग—अर्थात् लोहे के युग से है। परिवर्तन के वर्त्तमान काल में अवतारी प्रकाश प्रकट हो रहा है और ईसा का विरोध सामने आ रहा है। इसलिए यह अच्छे और बुरे में भेद करने का समय है। यह संघर्ष संसार के प्रकाश और युग की शक्तियों के बीच है। वास्तव में ही यह एक धार्मिक युद्ध है इसीलिए सारे संसार में, विशेषकर अमरीका और पश्चिम में एक आदर्श विषयक जोश दिखाई दे रहा है। और बुद्धिवादी संसार के और 'लॉज' के समाजविज्ञानियों में यह बड़ा अन्तर है कि एक की दशा में अध्ययन की प्रक्रिया क्षैतिज है और दूसरे की दशा में ऊर्ध्वाकार। एक दशा में इसका मानसिक ज्ञान के क्षेत्र में चारों ओर विस्तार होता है, जबकि दूसरी दशा में चेतना और चेतन होने के विभिन्न रूपों की गहराई तथा ऊँचाई में वृद्धि होती है। दूसरा मार्ग दीक्षा का और शिष्यत्व का मार्ग है। यह एक कठिन है, लेकिन कभी-कभी व्यक्ति के लिए केवल यही एक मार्ग खुला रह जाता है। एक औसत दर्जे के आदमी के लिए श्रद्धा केवल एक विश्वास है, पर प्रगति करते हुए रहस्यवादी के लिए यह बिजली के समान व्यापक रूप से विस्तृत शक्ति है जो प्रत्येक प्रकट प्राणी से चारों ओर फैलती है। साथ ही प्रत्येक प्राणी का भी बीजांकुरण, वृद्धि, अभिव्यक्ति तथा अन्तिम विलय द्वारा विकास होता रहता है।...

पहाड़ों को हिला देने वाली शक्ति प्रत्येक दीक्षित व्यक्ति को और अन्त में प्रत्येक आकांक्षी को प्राप्त होती है।...

इस अवतारी चक्र में एक ऐसी बात है जो जल्दी या देर में सभी राष्ट्रों को समझनी पड़ेगी, कि संसार में न्याय का ही शासन है।... यह प्रकाश

के पूर्ण आविर्भाव का चक्र है जिसमें सभी वस्तुएँ खुले में प्रकाशमान हो जायेंगी और मानवता का प्रथमजात पुत्र और प्रकाश-पुत्र ईसा उन्हें देखेगा। संसार में न्याय लाना भी उसके ही कार्य का एक अंग है। . . . और जब तक हम ऊपर के प्रकाश का धारण और नीचे के पशु-मानव की शक्तियों का उच्चतर उपयोग के लिए नियंत्रण नहीं कर सकते, तब तक हम छोटों को सहायता नहीं कर सकेंगे। जिस व्यक्ति पर भौतिकता, संवेग और मानसिकता छाई हुई है, उसे यह कुंजी नहीं मिलेगी; केवल निर्द्वन्द्व व्यक्ति को ही यह मिल सकेगी। लेकिन एक बार मिल जाने पर यह कुंजी एक ऐसे स्थान का दरवाजा खोल देती है जहाँ व्यक्तियों की भिन्नता नहीं रहती और जहाँ सदा एकता, भ्रातृत्व और आत्मिक केन्द्रीकरण विद्यमान रहता है। ऐसे स्थान में हर किसी को यह अनुभव होता है कि जैसा उसका भाई या बहिन है या जैसा वे करते हैं वह स्वयं वैसा है या वैसा करता है, क्योंकि हम सभी एक हैं और हममें कोई अलगाव नहीं है। मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति के बीच सार्वभौम प्रेम का एक पुल बनाने की बड़ी आवश्यकता है।

बौद्धिक पुनर्निर्माण

आजकल के युवक को इस शताब्दी के पहले दशक की श्रद्धा के बारे में समझाना कठिन काम है। वास्तव में १९०० की आत्म-तुष्टि के बजाय १८०० का विभ्रम अधिक आसानी से समझ में आ सकता है। इस आत्म-तुष्टि के दो रूप थे, एक उग्र, दूसरा रूढ़िवादी, एक आधुनिक, तो दूसरा बाइबिल का अनुयायी, लेकिन ये दोनों ही धार्मिक विश्वास की अभिव्यक्ति थे। उस युग के एक मुख्य प्रवक्ता, जॉर्ज ए० गॉर्डन ने लिखा था, "हमारे समय का जीवन आशावाद पर टिका हुआ है।" अवश्य ही वह इस बात को मानकर चल रहा था कि धार्मिक विचार अपने समय की भावना का सूचक है। उसी डॉलर की तरह जो कि उन दिनों भी प्रचलन में था हमारे पुरखों के विश्वास के दो पहलू थे और तत्त्व एक ही था। एक तरफ तो भलाई करने वाले ईश्वर में विश्वास था, और दूसरी ओर था आत्म-विश्वास अर्थात् प्रगति में, स्वतंत्र आदान-प्रदान में, सही मार्ग पर होने में और सत्य का सार समझे हुए होने में विश्वास।

बाइबिल पर आत्म-तुष्टिपूर्ण भरोसा

बाइबिल के बारे में आत्म-तुष्टि की विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यह अब भी चली आ रही है और सब लोग इसके बारे में कुछ न कुछ जानते हैं। १९०० तक प्रोटेस्टेंटों, कैथोलिकों और सुधारवादी यहूदियों के द्वारा ओल्ड टेस्टामेंट की थोड़ी-बहुत ऐतिहासिक आलोचना आमतौर से स्वीकार की जाने लगी थी। जहाँ तक यह अक्षरशः प्रेरणा में विश्वास को चोट पहुँचाता था वहाँ तक पादरी तथा शिक्षित जन-साधारण इसका स्वागत करते थे, क्योंकि धर्म-शास्त्रों की अक्षरशः प्रेरणा में विश्वास से जितनी समस्याएँ सुलझती नहीं थीं, उससे अधिक खड़ी हो जाती थीं।

यदि बाइबिल में लिखे गए सभी वाक्यों के शाब्दिक सत्य से धार्मिक प्रामाणिकत्व को अलग किया जा सकता तो यह बहुत ही अच्छी बात होती। धार्मिक अमरीकियों में से अधिकांश के लिए बाइबिल 'ईश्वर का शब्द' थी; यह उनके लिए प्रसन्नता तथा मुक्ति दोनों की ही सच्ची और विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक थी। ऐसा कोई कारण नहीं बताया जा सकता था कि ईश्वर का इरादा बाइबिल को विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक बनाने का क्यों हो, विज्ञान मानवीय छान-बीन और आविष्कार का परिणाम है और यह पूरी तरह मनुष्य के बस की बात है। लेकिन 'तौरा' और 'गौस्पल' में जीवन के जो नियम बताये गए हैं वे तो ऊपर से ईश्वरीय प्रकाश द्वारा मिले हैं। यदि बाइबिल का एक प्रामाणिक शास्त्र के रूप में संमान किया जाता है तो वह इसलिए नहीं कि उसमें निर्भ्रान्त ज्ञान है, बल्कि इसलिए कि वह उन मामलों में विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक है, जिनमें निर्णय की आवश्यकता होती है। बाइबिल के सत्य को प्रायोगिक विज्ञान से अलग करने के द्वारा धर्म-निरपेक्ष तथा पवित्र दोनों प्रकार की विधाएँ एक दूसरे की दखलंदाजी से बच गईं। अब व्यावहारिक अनुशासन के मामलों में विचार की स्वतंत्रता के साथ-साथ प्रामाणिक सलाह या आज्ञा भी रह सकती थी। अब बाइबिल की रूढ़िवादी आलोचना की आत्म-तुष्टि के साथ इस तरह व्याख्या की जा सकती थी कि उससे आधारभूत सत्यों की पुष्टि ही होती है और साथ ही साथ १९वीं शताब्दी के विज्ञान और धर्म में जो युद्ध चला था, उसकी समाप्ति भी हो जाती है। 'न्यू टेस्टामेंट' की उग्र तथा ऊँचे स्तर की आलोचना को, जिसने विदेश में ईसाई विश्वास के मूल पर ही कुठाराघात कर रखा था, अमरीका में बहुतों के द्वारा गंभीरता से नहीं लिया जाता था। कहा जाता था कि यह तो विशेषज्ञों की दिमागी उड़ान है। बाइबिल की प्रामाणिकता के बारे में इस प्रकार की आत्म-तुष्टि पहले की शताब्दियों की बाइबिल विषमक रूढ़िवादिता या कट्टर धर्मज्ञान से भिन्न थी, क्योंकि बाइबिल पर इस प्रकार के अस्पष्ट भरोसे से साम्प्रदायिक विवादों और मतों पर अत्यधिक बल देने की प्रवृत्ति को समाप्त किया जा रहा था। ऐसा

माना जाता था कि बाइबिल से न केवल बहुत-से ईसाई सम्प्रदाय अपने धर्म-शास्त्रीय भेदों के बावजूद पास-पास आते जा रहे थे, बल्कि इससे ईसाई और सुधारवादी यहूदी भी एक दूसरे के निकट आ रहे थे। इन कारणों से बाइबिल प्रार्थना-वेदी और धार्मिक शिक्षा दोनों के लिए केन्द्रीय बनी रही। कालेजों में भी धर्म के बारे में प्रारंभिक (और आमतौर पर एक-मात्र) कोर्स बाइबिल की पढ़ाई के रूप में होता था। शताब्दी के प्रारंभ के वर्षों में लिखी गई 'बाइबिल की भूमिकाओं' पर दृष्टिपात करने से पाठक को आसानी से पता चल जायगा कि किस आत्म-तुष्टिपूर्ण और 'रचनात्मक' भावना से बाइबिल का अध्ययन किया जा रहा था। वास्तव में तो कक्षा की पढ़ाई और धार्मिक उपदेशों में अंतर दिखाई नहीं देता था। लेकिन धार्मिक दृष्टि से बाइबिल की पढ़ाई को आवश्यक बना दिये जाने से भी उन लोगों को तसल्ली नहीं मिली जो किसी प्रकार की निर्भ्रान्त उच्च सत्ता पर भरोसा करना चाहते थे। और इस प्रकार की बहुत-सी कातर आत्माओं के लिए सबसे आसान रास्ता किसी निर्भ्रान्त चर्च की शरण लेने का था। अगर भ्रान्ति के दूर होने से तकलीफ होती है, जैसी कि एक स्वस्थ मन को होनी नहीं चाहिए, तो उसका एकमात्र इलाज किसी प्रकार का नशा है। प्रोफेसर वाल्टर एम० हॉर्टन ने, जिसने 'निर्भ्रान्तता के बिना प्रामाणिकता' को खोजने का अधिक कठिन मार्ग अपनाया है, इस उलझन के बारे में बड़ी बुद्धिमानी से कहा है :

अगर यह पूछा जाय कि ऐसा व्यक्ति जो 'निर्भ्रान्ति के ईडन बाग' को पीछे छोड़ चुका है, कैसे उस तक वापिस लौट सकता है, तो इसका उत्तर है कि उसे कुछ चक्कर लगाकर वापिस जाना होगा। ऐसे प्रोटेस्टेंट जिनकी भ्रान्ति दूर हो गई है, लेकिन जिनका विश्वास अभी निर्भ्रान्त बाइबिल में नहीं जगा है, निर्भ्रान्त चर्च की आवाज़ को आकर्षक पाते हैं, क्योंकि वह उनके लिए अपरिचित है। ऐसा व्यक्ति, जिसकी भ्रान्ति दूर हो गई है, जिस एक संभावना पर विचार नहीं करता है वह है उसके पुरखों की श्रद्धा; और फिर भी, छिपे तौर पर एक घुमावदार मार्ग द्वारा, वह उसी की ओर

लौटने का प्रयत्न कर रहा है।

आत्म-तुष्ट आधुनिकवाद

बीसवीं सदी के प्रारंभिक भाग का आत्म-तुष्ट उग्रवाद या आधुनिकवाद एक पूरी तरह भिन्न विश्वास था। कुछ थोड़े प्रतिशत ईसाई ही इसके अनुयायी थे यद्यपि सुधारवादी यहूदियों में इसका प्रचलन काफी था। इसका मुख्य अमरीकी स्रोत न्यू इंगलैंड का अतीन्द्रियवाद और निरपेक्ष आदर्शवाद था जिसके साथ विकासवादी उत्साह का एक संवेगी रूप जुड़ गया था। ऐसा धर्म वास्तव में न तो यहूदी था, न ईसाई; यह धर्म-निरपेक्षवाद का ही एक छिपा रूप था। जोन फिस्क ने विकासवाद को 'काम करने का ईश्वर का ढंग' बताकर उसका तीखापन बहुत कुछ दूर कर दिया था, और बहुत-से धर्मशास्त्रियों ने सृष्टीय विकास को धार्मिक चोला पहनाने का और वेदी पर से इसका उपदेश देने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। इधर न्यू इंगलैंड के उदार धर्मशास्त्रियों में 'न्यू थियोलौजी' (नये धर्म-शास्त्र) का विकास हो रहा था जिसका मुख्य उद्देश्य 'काल्बितिज्म' और 'प्यूरिजतिज्म' की रूढ़िवादी प्रवृत्तियों को समाप्त करना था।

इन दोनों दलों से कम चरमसीमा पर होरेस बुशनैल द्वारा चलाया हुआ मत था जिसका नेता थियोडोर टी० मंजर था। 'न्यू थियोलौजी' की उसके द्वारा की गई व्याख्या उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में उपदेश किये जानेवाले ईसाई धर्म-शास्त्र का सबसे संतुलित विकासवादी वर्णन है। ध्यान दें कि यह नया सिद्धान्त भी कितना रूढ़िवादी प्रतीत होता है :

'न्यू थियोलौजी' चर्च के ऐतिहासिक विश्वास से अलग नहीं हो जाती, बल्कि वह विकास की प्रक्रिया के साथ इसकी संगति बैठाने का प्रयत्न करती है। अंधाधुंध छलांगों के बजाय यह धीमी तथा सृष्टीय विकास के साथ की प्रगति में विश्वास करती है। नये धर्म-शास्त्रियों के साथ-साथ पुरानों से भी इसका संबंध है और औगस्टाइन के धर्म-शास्त्र के बजाय प्रारंभिक ग्रीक धर्म-शास्त्र के भावों से इसकी संगति ज्यादा बैठती है।

पिछले चर्चों के विशेष सिद्धान्तों को वह अस्वीकार नहीं करती। यह त्रिमूर्ति (ट्रिनिटी) में विश्वास करती है, लेकिन ऐसी त्रिमूर्ति में नहीं जो केवल औपचारिक हो या मनोवैज्ञानिक रूप से असंभव हो। ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता को यह स्वीकार करती है, पर उसे यह अपनी प्रणाली का आधार स्तंभ नहीं बना लेती है और उसे गतिमय के बजाय एक नैतिक आधार देना पसंद करती है। अवतार को यह केवल भौतिक घटना ही नहीं मानती, बल्कि यह स्वीकार करती है कि इसके द्वारा एक व्यक्ति के माध्यम से मानवता का उद्धार करने वाली शक्ति संसार में प्रवेश करती है। प्रायश्चित्त इसके लिए एक दिव्य कार्य और नैतिक व्यावहारिक महत्त्व की प्रक्रिया है; यह कोई संसार के संघर्ष से परे के स्वर्ग का रहस्य नहीं है, बल्कि संसार को पाप से मुक्ति दिलाने की एक व्यापक शक्ति है। पुनरुद्धार के बारे में यह मानती है, यह मनुष्य स्वभाव के सभी तत्त्वों पर लागू होता है, और अन्तिम न्याय के बारे में इसका विचार है कि उसका संबंध नैतिक स्वभाव के विकास से है। इस प्रकार यह इन धार्मिक सिद्धान्तों से उनके तत्त्व को व्याख्या द्वारा अलग नहीं कर देती, न उनके महत्त्व को कम करती है, और न यह उन्हें धर्म-शास्त्रों में प्रकट किये गए और चर्च तथा संसार के इतिहास में विकसित किये गए रूप से किसी भिन्न रूप में उन्हें प्रस्तुत करने की कोशिश करती है।

यद्यपि इस प्रकार के सिद्धान्त का उपदेश ईसाई वेदियों से दिया जाता था और इस पर बाइबिल का मुलम्मा चढ़ाने की कोशिश भी की गई थी, पर वास्तव में इसका तत्व विज्ञान के दर्शन से ही लिया गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में ऐसा सिद्धान्त वास्तव में एक 'नया धर्म-शास्त्र' था क्योंकि यह ईसाई धर्म को एक नये रूप में प्रस्तुत कर रहा था; लेकिन बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में यह उपदेश वास्तव में धर्म-शास्त्र विरोधी हो गया और तब ईसाइयत से बढ़कर किसी सार्वभौमिक धर्म की माँग होने लगी। बाइबिल की विश्वासपरक व्याख्याएँ अब उबाने वाली और अप्रासंगिक लगने लगीं। ईसाइयों और यहूदियों के अपने-अपने विशिष्ट सिद्धान्तों

के बारे में माना जाने लगा कि वे विश्वास की बातें हैं और उनसे ईश्वर की सार्वभौम तथा युक्तिसंगत पूजा पर प्रतिबंध ही लगता है। १८९३ में शिकागो में विश्व मेले के अवसर पर की गई सब धर्मों के संमेलन के द्वारा पूर्वी धर्मों के अंदर एक वास्तविक रुचि पैदा कर दी गई थी और तब ईसाइयत को अन्य धर्मों के बीच में एक धर्म मानने की ओर प्रवृत्ति होने लगी थी। इस प्रकार 'ईसाई धर्म के एकमात्रत्व' के बारे में ईसाई धर्म-शास्त्रियों के मन में भी सन्देह उठ खड़ा हुआ और वे धर्म के बारे में ऐसी पुस्तकें लिखने लगे जिनसे धर्म-शास्त्र को चोट पहुँचती थी। उदाहरण के लिए यद्यपि लाइमैन एबट ने अपने व्याख्यान 'दि थियोलौजी ऑफ एन इवोल्यूशनिस्ट' में 'थियोलौजी' शब्द बनाये रखा है और यद्यपि उसने इलहाम, पाप, बलिदान, ईश्वर की कृपा, आश्चर्य तथा ईसा के बारे में विचार-विनिमय किया है, तो भी उसने इन सबको विकासवाद के अधीन कर दिया था, (जैसे विकासवाद में ईसा का स्थान)। स्पष्ट है कि नया धर्म-शास्त्र न तो अब नया रहा था और न धर्म-शास्त्र ही। यह भी एक प्रकार की 'नयी रूढ़िवादिता' बन गया था जिसका उद्देश्य सब धर्म-शास्त्रों, मतों और सम्प्रदायों से ऊपर उठकर सार्वभौम विकास पर आधारित एक सार्वभौम धर्म तक पहुँचना था।

यही आधुनिकवाद था। अपने व्याख्यानों और उपदेशों तथा 'आउटलुक' के सम्पादन द्वारा लाइमैन एबट ने इसे देश के कोने-कोने में फैला दिया था। जोन फिस्क के कथन को कि "विकास ईश्वर का काम करने का ढंग है" को उसने एक नारा बना दिया था। छोटी उम्र के ऐसे पाठकों के लिए जिन्होंने कभी इस तरह के व्याख्यान न सुने हों, मैंने उसके व्याख्यानों के कुछ अंश प्रदर्शित-सामग्री संख्या ११ में एकत्र कर दिये हैं।

यह सिद्ध करने के लिए किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है कि यह सिद्धान्त केवल नाम में ही ईसाई था। यह उस समय का लोकप्रिय दर्शन या जिसका अनुवाद ईसाइयत की भाषा में कर दिया गया था। यह 'प्राकृतिक नियम' को आध्यात्मिक संसार पर लागू कर रहा था और विकास-

वादी आचार-शास्त्र के 'सत्ता के लिए संघर्ष', 'संघर्ष के द्वारा प्रगति', 'परख और ग़लती के द्वारा सत्य की खोज' आदि आम कथनों की व्याख्या के लिए ईसाई सिद्धान्तों तथा प्रतीकों का उपयोग करता था।

सुधारवादी यहूदियों में भी इसी तरह के 'धर्म-शास्त्रियों' द्वारा लगभग ऐसे ही सिद्धान्तों का उपदेश दिया जा रहा था।

रब्बी आइज़क एम० वाइज़ ने उस सर्वव्यापी उत्साह को, जो इन सब आत्म-तुष्ट उग्रवादियों को प्रेरणा दे रहा था, इस प्रकार बड़े स्वाभाविक रूप में रखा है :

वैज्ञानिक, यह है तुम्हारा ईश्वर और प्रभु जिसे तुम खोजते हो और जिसे पा लेना संसार में सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। यह वह ईश्वर है जो तर्क के द्वारा पता लगता है और स्वाभाविक रूप से अनुभव भी किया जा सकता है। दार्शनिक, यह है तुम्हारा ईश्वर जिसकी व्याख्या करना मनुष्य के लिए सबसे बड़े यश का काम है––कांट तथा अन्य विचारकों ने धर्म-शास्त्र के मानव रूपी ईश्वर के विरुद्ध तर्क दिये हैं। ब्रह्मांडीय ईश्वर ही दर्शन का पहला और अंतिम तत्त्व है। भोले लोगो, यह है तुम्हारा ईश्वर जिसे खोजने की तुम्हें आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह सब जगह समाया हुआ है, तुम्हारे अन्दर और तुम्हारे चारों ओर, पदार्थ के हर गुण और मन की हर गति में वह है; जहाँ तुम हो वहाँ वह है; जब भी तुम कुछ देखते हो या सोचते हो तो उसे ही देखते हो और उसी के बारे में सोचते हो। बच्चो, यह है तुम्हारा ईश्वर, तुम्हारे फूलों की सुगंध में और रंग में, कड़कड़ाती ध्वनियों और काना-फूसी में, आकाश के नीले गुंबज और धरती के हरे चोले में, तुम्हारी निर्दोष मुस्कराहट और तुम्हारी माता की मधुर कोमलता में। बुद्धिमान् या मूर्ख बड़े या छोटे लोगो, यह रहा तुम्हारा ईश्वर, न तुम उससे बच सकते हो और न वह तुमसे, वह तुममें है, और तुम उसमें हो। भविष्य की सभी पीढ़ियों के लोगो, यह ईश्वर सभी मानवीय भावों और ज्ञान की समानता में है, यह सबका और अनन्त काल का ईश्वर है, यह ब्रह्मांडीय ईश्वर है, और उसके सिवाय यहाँ कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार के आधुनिकवाद का प्रसार अमरीकी कैथोलिकों में भी होता रहा, जब तक कि पोप ने १९०७ में, कम से कम कैथोलिक वेदियों पर और प्रेस में इसका निषेध न कर दिया। लेकिन आत्म-विश्वास, प्रगति और विश्व-बंधुत्व के उस वातावरण पर, जब तक कि यह अमरीकी संस्कृति का व्यापक तत्त्व बना रहा, पोप की इस निषेधाज्ञा का कोई विशेष असर नहीं पड़ना था। अब भी ऐसे अमरीकी मौजूद हैं जो माइनो जे० सैवेज के इस कथन के साथ पूरी तरह सहमत होंगे :

हमने अमरीका में एक लोकप्रिय सरकार के अधीन स्वतंत्रता और व्यवस्था की समस्या को हल कर लिया है, जो इतिहास में इतने बड़े पैमाने पर पहली बार संभव हो सका है। यह सरकार इतनी लचकीली है कि सब परिस्थितियों के अनुकूल अपने आप को ढाल सकती है, और साथ ही इतनी समर्थ भी है कि इसमें सीमाहीन विस्तार तथा प्रगति हो सकती है। अब हम दिनोंदिन यह बात ज्यादा अच्छी तरह सीख रहे हैं कि किस प्रकार ज्ञान और अनुशासन से प्रकृति की शक्तियों पर काबू पाया जा सकता है और उन्हें अपने शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक जीवन का दास बनाया जा सकता है। लेकिन अभी तो हमने शुरुआत ही की है। यह संसार कोई इतना पुराना और जीर्ण-शीर्ण नहीं है कि जल्दी ही खत्म हो जाय, न यह कोई डूबता हुआ जहाज़ है जिस पर से जितने बच सकें उतने यात्रियों को बचाने की जल्दी हो। लंबी रात गुजर चुकी है, पूर्वीय आकाश उषा के समय फिर लाल हो उठा है; सारा दिन हमारे सामने है। यह दिन ज्यादा बुद्धिमान, अच्छे तथा प्रसन्न लोगों का होगा जो सचमुच ही पृथ्वी पर 'ईश्वर का राज्य' ला सकेंगे।

यद्यपि बहुत ही कम उपदेशकों ने इन सिद्धान्तों को इतने खुले तथा उग्र रूप में रखा था जिसमें कि हमने उन्हें देखा है, तो भी इस आत्म-तुष्टि में अमरीकी लोग एक हुए से दिखाई पड़ते थे। बाइबिल के अनुयायी और विकासवाद के आस्तिकों में वह भेद जिसने १९वीं शताब्दी में धर्म-शास्त्र को अस्तव्यस्त कर दिया था इस समय दब चुका था। थियोडोर मंजर ने इस परिस्थिति का बहुत सही वर्णन इस प्रकार किया है।

आजकल सच्चे और बुद्धिमान लोग संतों के उत्तराधिकार, बपतिस्मे के स्वरूप, अनंत दंड या बाइबिल की शाब्दिक प्रेरणा के बारे में विचार-विनिमय नहीं करते। इन सिद्धान्तों को लेकर जो झंडे खड़े किये गये थे वे अब भी लहरा रहे हैं, लेकिन लड़ाइयाँ उनके चारों ओर नहीं हो रहीं; वास्तव में तो छुटपुट वारदातों के सिवाय अब वे युद्ध के क्षेत्र भी नहीं रहे हैं---वे केवल ऐसे प्रश्न हैं जिनसे निश्चय हो सके कि क्या करना सबसे अच्छा रहेगा।

कुछ लोग यह सुझाव देते हैं कि पुराने ही मतों में से बेकार के हिस्सों को निकाल दिया जाये तथा शेष के आधार पर एक नवीन चर्च का निर्माण किया जाये, लेकिन यह एक ऐसी प्रक्रिया होगी जिससे चर्च और पादरी-समुदाय दोनों का ही पतन होगा; शक्तिशाली मनुष्य कमजोर उपाय काम में नहीं लाते। यदि यह बात सच है कि ईसाइयत की वेदी का पतन हो रहा है तो इसका एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि समझदार आदमी नयी शराब को पुरानी बोतलों में भरना नहीं चाहते; और न वे ऐसे पादरी समुदाय में प्रवेश करना चाहते हैं जिनके पास न तो शराब ही है, न बोतलें।

सामान्य बुद्धि का उदारवाद

पादरी समूह तथा संगठित धर्म पर आने वाले इस खतरे के आभास के कारण अमरीका में धार्मिक विचार के नेताओं ने किसी अधिक रचनात्मक सन्देश की खोज करनी शुरू की। इस नये जीवन का अनुभव इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में तकनीकी धर्म-शास्त्रियों के बीच किया गया, लेकिन यह दूसरे दशक के मध्य भाग तक एक आम बौद्धिक शक्ति का रूप नहीं ले पाया था। केवल इसी समय जाकर यह ईसाइयों के बीच 'उदारवाद' के नाम से और यहूदियों के बीच 'रूढ़िवाद' के नाम से जाना जाने लगा। मोटे तौर पर १९१५ से १९३० के वर्षों पर उदारवाद इसी तरह बौद्धिक रूप से छाया हुआ था जैसे कि १९०० से १९१५ के वर्षों पर बौद्धिक रूप से आधुनिकवाद छाया रहा था।

उदारवाद के दो पक्ष थे: एक सामाजिक सन्देशवाला और दूसरा विवेचनात्मक सामान्य बुद्धि को अपील करने वाला। दर्शन या विज्ञान के बजाय सामान्य बुद्धि को अपील करना अमरीका की अपनी विशेषता थी। जर्मनी का तर्कात्मक धर्मशास्त्र इससे आसान बन गया था। इस तरह अमरीका में धर्मशास्त्र विरोधी एक नया धर्मशास्त्र बन रहा था। इसकी व्याख्या में कुछ शब्द कहना प्रासंगिक ही होगा। विलियम जेम्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'दि वेरायटीज़ ऑफ रिलिजस एक्सपिरिएंस' (धार्मिक अनुभव के विभिन्न प्रकार) से विज्ञानवाद और प्रयोगवाद के विरुद्ध व्यापक प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई थी, लेकिन जिस तरह जेम्स ने धार्मिक अनुभव और विश्वास को प्रयोगशाला का विषय बनाया था उससे किसी धर्म-शास्त्र का आधार तैयार नहीं होता था। यह इतना ज्यादा व्यक्तिवादी, रहस्यवादी और 'व्यथित आत्मा' वाला था कि 'रचनात्मक' उपदेशों के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता था। लेकिन पहले की तरह इस बार भी अमरीकी उदारवादियों को जर्मनी में वह चीज़ मिल गई जिसकी वे तलाश में थे——और वह था अल्ब्रेट रिशैल द्वारा स्थापित नव्य प्रयोगवादी धर्मशास्त्र।

रिशैल सत्य की खोज न तो प्राकृतिक विज्ञान में कर रहा था और न पवित्र भावनाओं में ही; वह उन्हें 'ईसाई चेतना' अर्थात् चर्च या समुदाय के ऐतिहासिक विकास में प्राप्त तथा एकत्रित ईश्वर के प्रकाश के रूप में ढूंढ़ता था। एक धार्मिक समुदाय के ऐतिहासिक अनुभव पर बल देने से यह संभव हो सका कि किसी धर्म का 'तत्त्व' इसके इतिहास (या अमरीकियों के अनुसार सामाजिक विकास) के आधार पर निश्चित किया जाय। इस प्रक्रिया में ईश्वर का दिव्य दर्शन होता है और दिव्य निर्णय भी, लेकिन यह दिव्य दर्शन ईश्वर की वास्तविकता का नहीं होता (क्योंकि वह मानवीय ज्ञान के परे है) अपितु ईश्वर के मूल्य या इतिहास में उसके अर्थ का होता है। आधुनिकवादी नेता डॉ० गॉर्डन ने 'ईश्वर की मानवता' को एक 'अनन्त रहस्य' कहा है, और उसने मानवता का प्रयोग दयालुता, अवतार और

व्यक्तित्व के अस्पष्ट पर्यायवाची के रूप में किया है। धर्म-शास्त्र को ब्रह्मांड-शास्त्रीय तथा अध्यात्म-शास्त्रीय पृष्ठभूमि से अलग करने के द्वारा रिशैल के अनुयायी मनुष्य से सम्बद्ध ईश्वर की एक ऐतिहासिक व्याख्या देन में सफल हो सके। इस तरह रूढ़िवाद और विकासात्मक आधुनिकवाद की तरह ईश्वर के ब्रह्मांडीय ज्ञान का ढोंग किए बिना ही ईसाइयत के तत्व की व्याख्या और प्रायोगिक (ऐतिहासिक) रूप से उसका बचाव किया जा सकता था।

जर्मन लोगों ने ईसाई संस्थाओं की पृष्ठभूमि पर ईसाई विचार के इतिहास के विस्तृत अध्ययन द्वारा इस विधि का विकास किया था और इस सबका परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय प्रमाण के रूप में बाइबिल के स्थान पर ऐतिहासिक अथवा 'जीवित' ईसा की प्रतिष्ठा हो गई। इस प्रकार ईश्वर के सिद्धान्त को भी ईसा की ओर लाया जा रहा था। इस प्रकार के कार्य में ऐतिहासिक ईसा की खोज करने के सिलसिले में 'न्यू टेस्टामेंट' की पुनर्व्याख्या करने के अनन्त अवसर थे।

लेकिन बहुत-से उदारवादियों ने 'ईसाई चेतना' के एक अधिक सम-सामयिक रूप की अपील करने के द्वारा इस कठिन ऐतिहासिक खोज के काम को आसान बना दिया। अमरीका में प्रयोगवादी धर्म-शास्त्र की एक लंबी परम्परा थी जिसकी परिणति धार्मिक अनुभवों के विश्लेषण में विलियम जेम्स की रुचि से उत्पन्न धर्म के व्यक्तिवादी मनोविज्ञान में हुई। परिणामतः, इन अमरीकी उदारवादियों के लिए रिशैल की 'ईसाई चेतना' को अधिक व्यावहारिक और दूरदर्शी रूप में लेना बहुत आसान था। इस प्रकार हेनरी सी० किंग ने लिखा था :

ईसा न केवल नैतिक तथा आध्यात्मिक रूप से एक है, और इस तरह ईश्वर की इच्छा के प्रति अपने पूर्ण व्यवहार में सर्वथा अद्वितीय है, लेकिन वह अतिभौतिक रूप से भी ईश्वर के साथ एक प्रतीत होगा, यदि इस तत्त्व की व्याख्या दूरदर्शी रूप से की जाय। इस प्रकार इस कथन के नये और पुराने, वैयक्तिक तथा अतिभौतिक रूपों में समन्वय हो जाता है; लेकिन इस

बात में कोई सन्देह नहीं है कि वैयक्तिक तथा व्यावहारिक रूप में ईसा की दिव्यता को मान लेना ही अधिकांश लोगों के लिए कहीं अधिक युक्तिसंगत और निश्चित परख है ।

ईसाई अनुभव के इस अमरीकी रूप में 'फल' के लिए स्पष्ट रूप से प्रयोगवादी अपील की । जब इसका संबंध ईसाई चर्चों के ऐतिहासिक अनुभवों की बाहर से आयी अपील के साथ हो गया तो उदारवादी धर्म-शास्त्र के लिए बहुत अच्छा आधार तैयार हो गया । व्यावहारिक प्रयोग-वाद ने इसे आगे देखने वाला रूप प्रदान किया, ऐतिहासिक प्रयोगवाद ने इसे परम्परा की पृष्ठभूमि दी और इन दोनों के मिश्रण से इसे वैज्ञानिक विधि तथा धार्मिक प्रामाणिकता दोनों ही मिल गये । इस प्रकार उदार-वादी अमरीकी उपदेशक और अध्यापक उस चीज़ तक पहुँचे जिसे मैं विवेचनात्मक सामान्य बुद्धि की प्रवृत्ति और अपील का नाम दे रहा हूँ ।

इस उदारवाद का साहित्य इतना विशाल और इतना परिचित है कि मैं इसका विस्तार से वर्णन नहीं करूँगा । इसकी चरम परिणति हैरी एमर्सन फॉस्डिक के उन अत्यधिक लोकप्रिय उपदेश और भक्तिपूर्ण पुस्तकों में हुई, जिनके शब्द अभी भी हमारी स्मृति में ताजे हैं और जिनका प्रभाव अभी भी पर्याप्त स्पष्ट है । यद्यपि फॉस्डिक ने अनेक स्थानों की यात्राएँ की थीं और अनेक सम्प्रदायों की वेदियों से उपदेश दिये थे, उसका सबसे अधिक सुपरिचित रूप न्यूयार्क के 'रिवरसाइड चर्च' के निर्माता और उप-देशक के रूप में है । यह चर्च अंतः साम्प्रदायिक उदारवाद की प्रेरणा का स्थान और प्रतीक बन गया था । उसकी सरल धारा प्रवाहिता और सामान्य बुद्धि ने उसे ऐसे बहुत-से मध्यवर्गीय प्रोटेस्टेंटों के लिए प्रिय वक्ता बना दिया था जो धर्म-शास्त्र के प्रति तो उदासीन थे लेकिन अपनी संस्कृति के स्वाभाविक और केन्द्रीय भाग के रूप में चर्च के जीवन के प्रति अनुरक्त थे । 'आधुनिक भावात्मक' सन्देश को लोकप्रिय बनाने में फॉस्डिक की सबसे बड़ी पुस्तक संभवतः 'दि मॉडर्न यूज ऑफ दि बाइ-बिल' (१९२४) थी; इसमें उसने बताया था कि बाइबिल का आधार-

भूत उपयोग मनुष्यों को ईसा के पास तक लाने के लिए है। ईसा ही एक जीवित सत्य के रूप में ईसाई धर्म का सच्चा आधार है और ईसा के ऐसे स्थायी अनुभवों तक हमें ले जाने की बाइबिल की शक्ति लोगों द्वारा बदलते हुए रूपों में की जाने वाली वाइबिल की आलोचना से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

इसी दृष्टिकोण को फॉस्डिक की सी सरल धाराप्रवाहिता के साथ चार्ल्स ई० जेफर्सन ने १९०३ में तैयार हुए अपने उपदेशों के संग्रह में सामने रखा है जो 'थिंग्स फंडामेंटल' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उदारवाद के प्रारंभिक दिनों के प्रतिनिधि के रूप में इन उपदेशों के कुछ अंश मैंने चुने हैं (कृपया प्रदर्शित सामग्री संख्या १३ देखें)।

सामाजिक धर्म-शास्त्र

इस तरह जब उदारवादी उपदेशकों का एक विशिष्ट दल सामान्य बुद्धि और सद्भावना वाले मनुष्यों के लिए ईसाई धर्म युक्तिसंगत रूप में प्रस्तुत कर रहा था, उसी समय दूसरा दल सामाजिक सन्देश के उपदेश के द्वारा ज्यादा प्रत्यक्षरूप से कर्म की प्रेरणा दे रहा था। पिछले अध्यायों में समाजवादी ईसाइयत के विकास और उसके तात्पर्य की कहानी हम पहले ही बता चुके हैं। यहाँ केवल यही बताना शेष है कि सामाजिक सन्देश के समर्थकों द्वारा धीरे-धीरे विकसित किये गये धर्म-शास्त्र ने उदारवाद के उन सिद्धान्तों को पुष्ट किया जिन पर हमने अभी विचार किया है।

अमरीका में धार्मिक सामाजिक कार्य पर उतना सैद्धान्तिक विचार नहीं हुआ था जितना धार्मिक उदारवाद पर। अपने प्रारंभिक रूपों में यह न केवल धर्मशास्त्र-विरोधी था अपितु चर्च-विरोधी भी था। उदाहरण के लिए प्रारंभ की बहुत-सी अपीलों में यह पढ़ने को मिलता है कि चर्च उन बहुत-सी मानवीय संस्थाओं में से केवल एक है जिनमें ईश्वर का राज्य आना चाहिए, और इसलिए चर्च को चाहिए कि वह विरोधी या 'सांसारिक' समाज से अलग रहने के बजाय स्वयं भी शेष सामाजिक व्यवस्था

के साथ बदलता चला जाये। एक ईसाई समाज सारी संस्थाओं को कृपा के मार्ग के रूप में बदल देगा और इस तरह सारे संसार की सामूहिक रूप से रक्षा होगी।

सामाजिक सन्देश के अन्दर निहित धर्म-शास्त्र की दो रूपों में व्याख्या की गई। उनमें से जी० बी० स्मिथ का धर्म-शास्त्र अधिक अमरीकी था और आधुनिकवाद के अधिक निकट था। इस में ईसाइयों से संसार से अलग रहने की अपनी बहुत पुरानी पारम्परिक प्रवृत्तियों को छोड़ने की अपील की गई थी, और उनसे नैतिक और तकनीकी प्रगति की 'धर्म-निरपेक्ष' आधुनिक शक्तियों का साथ देने के लिए कहा गया था। इसे वह प्रजातंत्रीय धर्म-शास्त्र कहता था, और क्योंकि धर्म-शास्त्र के बारे में इस तरह की बात अधिकांश पाठकों के लिए अब भी नयी है, यहाँ पर उसका एक नमूना देना अच्छा रहेगा।

ईसा की विधि ने मानवीय समस्याओं के प्रति जिस प्रयोगवादी प्रवृत्ति का सुझाव दिया था उसकी जगह यह विश्वास आ गया कि नैतिक सिद्धान्तों का निर्णय निरीक्षण और तर्क द्वारा नहीं अपितु प्रामाणिक धर्म-शास्त्रों के आधार पर होना चाहिए। यह आदर्श सदियों से चला आ रहा है और अधिकांश चर्चों में धार्मिक शिक्षा की आधारभूत पूर्वमान्यता बना हुआ है। लेकिन एक ऐसा समय आया जब कि मनुष्य की बढ़ती हुई बौद्धिक शक्तियों ने नये प्रयोग करने शुरू किये; और इनमें से कुछ प्रयोगों के परिणाम मानवीय ज्ञान को विस्तृत करने और जीवन की दशाओं को सुधारने की दिशा में बहुत ही आश्चर्यजनक निकले। धीरे-धीरे इन नये 'प्राकृतिक' सिद्धान्तों के नैतिक दावे बढ़ते चले गए।

अब पुराने संस्कारों में पली हुई धार्मिक चेतना इन 'धर्म-निरपेक्ष' और 'भौतिकवादी' साधनों में वह महत्त्व नहीं ढूंढ़ पाती हैं जो कि उनमें होना चाहिए। ईश्वरी कृपा के साधनों के बारे में यह धारणा है वे हमारे अनन्तकालीन कल्याण के लिए चमत्कारी रूप से लाये जाते हैं ...। अगर वैज्ञानिक आदर्श की धार्मिक व्याख्या न की गई तो यह चर्च का एक

ज़बरदस्त प्रतिद्वन्द्वी बन जायेगा; लेकिन यदि ईसाइयत इन वैज्ञानिक प्रयत्नों के छिपे हुए धार्मिक महत्त्व को सामने ला सके तो ईसाई आकांक्षा और कर्म का क्षेत्र इतना विस्तृत हो जायेगा उसमें उत्साह की कोई सीमा ही नहीं रहेगी।

इसके बाद स्मिथ ने संकेत किया है कि धार्मिक अनुभव में आये परिवर्तनों का साथ धर्म-शास्त्र नहीं दे पाया है और अब वह समय आ गया है कि "दिव्यता की व्याख्या हमारे धार्मिक अनुभव के आधार पर की जाये।" हमारे मन में अब भी यही कल्पना है कि यह कोई दूसरे संसार की चीज़ है जिसे एक किसी खास विधि द्वारा इस संसार में लाने की आवश्यकता है। हमें लगता है कि इसे पहचानने के लिए यह आवश्यक है कि इसे 'प्राकृतिक' अवस्था से अलग रखा जाये ताकि यह कोई अद्वितीय चीज़ मालूम पड़े। लेकिन साथ ही साथ हमारी संस्कृति की वैज्ञानिक और नैतिक माँगें बाधित करती हैं कि हम उन चमत्कारी विशेषताओं में काट-छाँट करें जो कि पहले दिव्यता की प्रतीक समझी जाती थीं। एक नैतिक धर्म-शास्त्र के विकास में अगला कदम यह होगा कि दिव्यता की विभिन्न कोटियों को उन रूपों में सामने रखा जाये जिनका मेल प्रजातंत्रीय आचार-शास्त्र से बैठ सके। हमें ईश्वर का यह रूप सामने रखना है कि वह यहीं पर उपस्थित सहकर्मी है जो कि अपने बच्चों के साथ परिश्रम कर रहा है बजाय इस रूप के कि वह एक सर्वोच्च शासक है जिसके वे अधीन हैं और जिससे विशेष लाभ या कृपाएँ उन्हें मिलती रहती हैं....। क्योंकि अनन्त साधनों वाले आश्चर्यजनक इस संसार में मानवीय आत्माओं को प्रिय लगने वाली सभी चीज़ों को बनाये रखने के लिए पर्याप्त स्थान है। ईश्वर-रूप परिवर्तन के अपने चमत्कारों को वृद्धि की उन बहुत-सी प्रक्रियाओं के रूप में सामने रखता है जिनसे जीवन में सौंदर्य, नैतिकता और पूजा के भाव आते हैं। इसलिए हमें किसी भी ऐसी चीज़ को तुच्छ नहीं समझना चाहिए जिससे ईश्वर के प्रति भय, आदर या नैतिक अभीप्सा के भाव उदित होते हैं।

आधुनिक संसार और इसके नैतिक मूल्यों के इस उत्साहपूर्ण स्वागत

के ठीक विरोध में वाल्टर रौशन बुश का धर्म-शास्त्र है। उसने एक पैग-म्बर के तौर पर संसार के बारे में निर्णय दिया है और कहा है कि अभी आनेवाले ईश्वर के राज्य को ध्यान में रखकर हम सभी को पश्चात्ताप करना चाहिए। यद्यपि उसने सामूहिक अपराध, पाप और उद्धार पर बल दिया है तो भी रौशेन बुश ने ईश्वर के प्रकोप के बारे में उपदेश देने से बचा रहने दिया। ईश्वर तो एक प्यार करने वाला पिता है जो कि ईसा के जीवन और उसके 'रहस्यात्मक' शरीर चर्च के रूप में एक सामूहिक वास्तविकता बन जाता है। संसार की सामूहिक मुक्ति के लिए ईश्वर के साथ ईसाइयों का एक सम्प्रदाय बना हुआ है। मुक्ति की यह ऐतिहा-सिक प्रक्रिया ही पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य है और यह राज्य तब आता है जब मनुष्य अपने सामूहिक उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हैं और सामाजिक व्यवस्था में ईसाइयत लाने का प्रयत्न करते हैं।

१९२० से १९३० तक ईसाई उदारवाद अपनी चरम सीमा पर था। (कृपया प्रदर्शन सामग्री संख्या १४ देखिए)। कुछ अपवादों को छोड़कर चर्च के अन्दर के धर्म-शास्त्री और सामाजिक सुधार के नेताओं ने अपनी शक्तियाँ मिला लीं और अपने संगठित सहयोग द्वारा उस संस्थागत और नैतिक पुनर्निर्माण के आन्दोलन को आश्चर्यजनक बल प्रदान किया जिसे हमने अभी देखा है। इस शक्तिशाली उदारवाद पर हुए आक्रमणों के बारे में बताने से पहले हमें यहूदी धर्म के अन्दर इसी प्रकार के आन्दोलन के बारे में कुछ संक्षेप से बताना आवश्यक है।

अपने ईसाई पड़ोसियों की तरह, यहूदी नेताओं ने यह समझ लिया था कि सुधारवादी यहूदी धर्म के प्रकृतिवाद की ओर झुके हुए धर्म-शास्त्र के बजाय उसका ऐतिहासिक रूप से व्याख्या किया गया सिद्धान्त अधिक लाभकर है। अग्रणी सुधारवादी रबियों ने यहूदी धर्म पर अधिक आधा-रित धर्म-शास्त्र की आवश्यकता को जाना था। यद्यपि सुधारवादी यहूदी धर्म अब भी अपने आपको नये रूप से प्रकट करने की भावना से आधु-निकवादी विश्वास को लिये हुए है, तो भी इसमें विशिष्ट यहूदी विचारों

और उत्तराधिकार पर कहीं अधिक बल दिया जाता है। इसमें रूढ़िवादी यहूदी धर्म की सांस्कृतिक राष्ट्रीयता भी बहुत कुछ पायी जाती है। १९ मार्च १९५० को हुए सुधारवादी यहूदी धर्म के धर्म-शास्त्र की संस्था के सम्मेलन में रबी सैम्यूल एस कोहन ने कहा था :

यहूदी धर्म के पुराने रूपों की तरह सुधारवाद को भी निरंतर बदलते हुए सांस्कृतिक और बौद्धिक वातावरण के अनुकूल बनते रहना चाहिए।... यहूदी धर्म की अपनी विशिष्टता है और अंतर्दृष्टि के अपने स्रोत हैं जिनकी खोज हमें आधुनिक ज्ञान द्वारा दिये गए साधनों से करनी है ताकि हम अपने धार्मिक उत्तराधिकार को अपने पूर्ण रूप से समझ कर अधिक समृद्ध रूप में सामने रख सकें। धर्म-शास्त्र में फिर से जगी हुई रुचि, विद्वान तथा गंभीर जन-साधारण और रबी लोग ये सब मिलकर यहूदी धर्म के लिए वरदान साबित हो सकते हैं यदि ये उदारवाद विरोधी उन शक्तियों का साथ न दें जो कहती हैं मनुष्य स्वभाव में परिवर्तन नहीं हो सकता और इस तरह जो बुद्धि और स्वतंत्रता पर चोट पहुँचाती हैं।

इस नयी विचारधारा में से रूढ़िवादी यहूदी धर्म नामक आन्दोलन का जन्म हुआ जो कट्टरपंथियों के लिए बहुत ज्यादा उदार और सुधारवादियों के लिए बहुत ज्यादा राष्ट्रवादी है। हम देख चुके हैं कि किस तरह यह आन्दोलन अमरीका में आया और पनपा। अब तो यह यहूदी धर्म का एक केन्द्रीय अंग बन गया है। यहाँ हमें यह भी ध्यान दिला देना चाहिए कि इस आन्दोलन के धार्मिक और आदर्शीय सिद्धान्त रबियों की मंडली के बाहर भी स्वीकार किये जाने लगे हैं और इस समय ये अमरीकी यहूदियों की धार्मिक विचारधारा की सबसे प्रभावशाली प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ते हैं, लेकिन इनका स्वरूप अभी एक प्रवृत्ति का ही है इसलिए कहा नहीं जा सकता कि ये आगे कहाँ तक जाएँगे। इस आन्दोलन के पुनर्निर्माणवाद के नाम से चलने वाले वामपक्ष ने धर्म-शास्त्र में एक अत्यधिक आधुनिकवादी स्थिति अपना ली है और दार्शनिक रूप से यह इतना उदार है कि कट्टरपंथियों ने इसकी निंदा करनी शुरू कर दी है

लेकिन रूढ़िवादियों में तोरा, मसीहा, इलहाम और ईश्वर के सिद्धान्तों के प्रति काफी सहिष्णुता है। ये बुनियादी बातें सैद्धान्तिक उतनी नहीं हैं जितनी कि ऐतिहासिक; इनका मुख्य ध्येय यहूदी परम्परा का और संस्कृति की विशिष्टता को बनाये रखना है। इसके अनुसार यहूदी धर्म के लिए जियोनवाद यहूदी जाति की सतत ऐतिहासिक सत्ता का चिह्न मात्र ही नहीं रहा है, बल्कि उससे यह भी आशा बनती है कि यहूदी साहित्य कानून और भक्ति एक जीवित संस्कृति का रूप धारण कर लेंगे। संक्षेप में, जिस प्रकार ईसाई उदारवाद का केन्द्र स्वयं ईसामसीह बन गया है उसी प्रकार सम-सामयिक यहूदी श्रद्धा का केन्द्र उनके वतन इजराइल की पुनः स्थापना है। इन दोनों ही प्रवृत्तियों से पता चलता है कि ये बाइबिल की प्रामाणिकता पर अत्यधिक बल नहीं देतीं।

फंडामेंटलिस्ट आक्रमण

उदारवाद पर विभिन्न दिशाओं से बौद्धिक आक्रमण हुआ और इस तरह एक अनेक पक्षीय लड़ाई शुरू हो गई जो कि अब भी चल रही है। इसका परिणाम संभवतः अबौद्धिक शक्तियों द्वारा तय होगा। इस समय आक्रमण की चार मुख्य दिशाएँ स्पष्ट दीखती हैं :

(१) फंडामेंटलिज्म——(जिसे कि बौद्धिक रूप से रूढ़िवादी मानना चाहिए);

(२) नियोऑर्थोडॉक्सी——(जिसे कि अमरीका में नियोरेडिकलिज्म कहना ही ठीक रहेगा)

(३) एग्जिस्टेंशियलिज्म——(जो कि धर्म-शास्त्रीय यथार्थवाद का एक रूप है); और

(४) ह्यूमैनिज्म——(जो कि उदार है लेकिन धर्म-शास्त्रीय नहीं है)।

हमने दूसरे अध्यायों में बीसवीं सदी के एक आन्दोलन के रूप में फंडामेंटलिज्म के सामाजिक और नैतिक महत्त्व पर विचार किया है। १९वीं शताब्दी में सिद्धान्तों में किसी भी परिवर्तन को रोकने के लिए

रूढ़िवाद द्वारा अनक प्रयत्न किये गये। फंडामेंटलिज्म एक धर्म-शास्त्रीय तर्क या दृष्टिकोण के रूप में उसी परम्परा में है। तो भी मुख्य प्रोटेस्टेंट मतों के पादरी समुदाय में आधुनिकवादी नवीन प्रभावों को न आने देने के प्रयत्न में सफलता नहीं मिली है और बाइबिल के अध्ययन द्वारा फंडा-मेंटलिज्म के उद्देश्यों को पूरा किया जा सका है। ऐतिहासिक समालोचना के सामान्य सिद्धाांतों के आधार पर ही बाइबिल का अध्ययन ज्यादा हो रहा है, हालाँकि यह स्पष्ट नहीं है कि इन सिद्धान्तों का अन्तिम परिणाम क्या होगा।

पोप ने १९०७ में आधुनिकवाद पर आक्रमण करते हुए 'उत्सुकता और अभिमान' को सारी मुसीबत का कारण बताया था, और यह बाइ-बिल का प्रामाणिकता के प्रोटेस्टेंट चैंपियनों के बजाय पोप का संकेत कहीं अधिक वैयक्तिक था। पर वास्तव में जिस बात ने पोप और फंडामेंटलिस्ट लोगों पर प्रभाव डाला था, वह थी उनका यह समझ लेना कि जो कोई भी आधुनिकवाद को बहुत गंभीरता से लेगा उसे ईसाई धर्म की प्रामाणिकता की व्याख्या करने में कठिनाई होगी। चर्च का कोई भी अनुयायी ऐतिहासिक धर्म और आधुनिकवाद, इन दोनों के प्रति पूरी तरह वफादार नहीं हो सकता था। पोप, बिशपों और उपदेशकों को तो अधिकार के साथ बोलना होता है, और धार्मिक अधिकार के लिए कुछ विश्वासों की प्रामाणिकता बुनियादी शर्त है, चाहे वे विश्वास धार्मिक जीवन के लिए बुनियादी हों या नहीं। उनके दृष्टिकोण से यदि यह अधिकार बुनियादी है तो चर्च भी बुनियादी है। पर उदारवादी इस अधिकार पर ही चोट कर रहे थे। जब हार्वार्ड के प्रेज़िडेंट ईलियट ने कहा कि "संसार में अब तक ज़रूरत से ज्यादा धार्मिक प्राधिकार रहा है।" (प्रदर्शन सामग्री संख्या १५) तो उस समय स्वभावतः ही चिंता हुई थी।

अधिकार से डर लगना भी स्वाभाविक था, पर वैज्ञानिक तथा नैतिक रूप से आधुनिकवाद का खंडन करने के लिए अधिकारियों के प्रयत्न दयनीय ही सिद्ध हुए। आधुनिकवाद को शायद रोका जा सकता था

पर रूढ़िवाद का मंडन बौद्धिक रूप से इतना आसानी से नहीं हो सकता था। कैथोलिकों ने तो एकदम और फंडामेंटलिस्ट लोगों ने धीरे-धीरे यह समझ लिया कि इसके लिए अधिक विद्वत्तापूर्ण विधियों की आवश्यकता पड़ेगी। कैथोलिक विश्वास के रक्षक के रूप में नियो-टॉमिज़्म के विकास से चर्च को बहुत सहारा मिला है, क्योंकि इसमें पादरियों की तरह प्रामाणिकता की दलील देने के बजाय बुद्धि को अपील की जाती है। इस विकास की कहानी हमें अमरीका के बाहर ले जायगी क्यों कि यूरोपीय विद्वानों द्वारा दिखाये गए रास्ते पर अमरीकी टॉमिज़्म कुछ-कुछ ही चल पाया है। जो भी हो, यह बात तो स्पष्ट है कि स्कलैस्टिसिज्म द्वारा सामने रखा गया रूढ़िवाद का रूप फंडामेंटलिस्ट लोगों द्वारा की जाने वाली बाइबिल की अपील से बहुत भिन्न है।

इधर ऐसे चिह्न मिलने लगे हैं जिनसे पता चलता है कि अमरीकी प्रोटेस्टेंट लोगों के बीच एक धर्मोपदेशीय स्कॉलैस्टिसिज्म का उदय हो सकता है। इस प्रकार के कुछ धर्म-शास्त्री रूढ़िवाद के बुनियादी सिद्धान्तों का बचाव बाइबिल की प्रामाणिकता के बजाय व्यवहारवादी तर्कों से करने लगे हैं। 'ईसाइयत सत्य क्यों है?' 'ह्वाई इज़ क्रिश्चिएनिटी ट्रू?' नामक लोकप्रिय पुस्तक में एडगर मलिंस ने धर्मोपदेशीय सिद्धान्त को एक दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया है और इसकी रक्षा के लिए उन तरीकों से काम लिया है जिनका प्रयोग इसके विरोधियों ने आक्रमण के लिए किया था। तो भी अपेक्षाकृत कम ही रूढ़िवादी शिक्षक अपनी श्रद्धा को व्यवहारवादी आधार देने, या ज्यादा सही शब्दों में, व्यवहारवादी तर्क के कारण अपनी श्रद्धा को जोखिम में डालने के लिए तैयार हैं।

धर्म-शास्त्र का पुनरुत्थान

धर्म-शास्त्र में तथाकथित नव्य रूढ़िवाद और नव्य उग्रवाद ने आधुनिकवाद और उदारवाद का सामना उनकी कमियाँ दिखाकर किया और उन पर आरोप लगाया कि उनसे ज्यादा दूर तक काम नहीं चल सकता

था। संकट में से गुजरते हुए संसार की धार्मिक आवश्यकताओं और अनुभवों का साथ उदारवाद न दे सका। वास्तव में संकट के अनुभव के लिए तो उदारवाद तैयार भी नहीं था। प्रगति और विकासशील सत्ता में आशावादी विश्वास प्रथम महायुद्ध में तो बचा रह गया क्योंकि, अपने प्रेस्बिटेरियन नेता वुडरो विल्सन की तरह, बहुत-से उदारवादियों ने अपने आप को समझ लिया था कि ईसाई तथा प्रयोगवादी आधारों पर 'युद्ध समाप्त करने के लिए युद्ध' करना उचित ही था, और शायद ईश्वर के राज्य की स्थापना में उनका विश्वास इसी तरह फलीभूत होने वाला था। लेकिन जब 'लीग ऑफ नेशंस' असफल हो गई, और बहुत-से विश्वव्यापी चर्च के आन्दोलन और सुधार (विशेषकर नशाबंदी) असफल हो गए, आर्थिक गिरावट आयी, धर्म-निरपेक्ष अधिसत्तावाद के साथ संघर्ष और उसकी पाशविकताएँ बढ़ने लगीं, तो ऐसा लगा कि उदारवादी उपदेशकों के प्रवचन और सामाजिक सुधारकों के प्रयत्न बीते युग की बात थी। संसार बदल चुका था और अब इसे किसी दूसरे ही सन्देश की आवश्यकता थी। रीनहोल्ड नीबर ने अपनी पुस्तक 'रिफलैकसंस ऑन दि एंड ऑफ़ एन एरा' (१९३४) में न केवल इस नई विचारधारा को अभिव्यक्ति दी है अपितु एक नये युग के लिए तैयारी भी की है। इसके विचारों के अनुसार मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता यदि वह मनुष्य स्वभाव के साधनों का या इतिहास के तर्क का ही अनुसरण करता रहे। इसलिए "प्रकृति और इतिहास के संसार में अपनी अवश्यंभावी पराजय में" मानवीय आत्मा को कुछ सांत्वना कृपावाले धर्म या ऐसे सन्देश से मिल सकती है जिसमें उद्धार के अतिमानवीय स्रोत की आशा निहित हो। मार्क्सवादियों के द्वारा इसकी व्याख्या एक ऐसे राजनैतिक और नैतिक पराजयवाद के रूप में की जा सकती है, जिस पर आध्यात्मिक 'अफीम' का आवरण चढ़ा दिया गया है। लेकिन इसका उद्देश्य था कि ऐतिहासिक दिव्य सत्ता में उदारवादी विश्वास के मार्ग में इतिहास के तर्क जिन कठिनाइयों को उठा रहे थे उनके बावजूद चर्च अपनी आत्म-तुष्टिपूर्ण सामा-

जिक राजनीति से मुड़कर ईश्वर में एक अधिक श्रद्धापूर्ण विश्वास की ओर आयें ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि संकट की भविष्यवाणी करने वाले लोग उदारवाद के अन्दर से ही पैदा हो रहे थे। उदारवाद में सुधार हो रहा था (अवश्य ही, यह सुधार 'ईश्वर की छत्रछाया' में था)। इस पर आक्रमण बाहर से आते मालूम पड़ रहे थे । १९२० और ३० के दशकों में जर्मनी से अमरीका में बड़े व्यवस्थित रूप से विनाश के विलापों का आयात होता रहा । न केवल अमरीकी आत्म-तुष्टि की भावना पर, अपितु अमरीकी आदर्शवाद की आवाज पर भी एक नयी शब्दावली, इतिहास का एक विचित्र दर्शन, 'ईश्वर के राह' का एक तकत्मिक प्रयोग तथा पारलौकिक न्याय के बारे में ऊँची पुकारें, ये सब बातें बुरी तरह छा गईं । 'द्वन्द्वात्मक धर्म-शास्त्र' के बारे में यह सब शोरशराबा एक ऐसा धर्म-शास्त्रीय गर्जन था जो एक विस्फोटित होती हुई संस्कृति पर फैलता जा रहा था । यह एक ऐसे संकट की अभिव्यक्ति था, जिसने उदारवाद के स्वप्न को समाप्त कर दिया । इसका दर्शन विदेशी था, पर अमरीकी उदारवादी इसका प्रयोग एक ऐसे भाग्य का वर्णन करने में करते थे जिसने उन्हें बाहर से आकर जकड़-सा लिया था । अमरीकियों को यह संभव ही नहीं मालूम होता था कि वे कठिन परिस्थितियाँ जिनमें से इस पीढ़ी को गुज़रना पड़ रहा है उनके अपने पापीपन और अंधेपन का परिणाम हो सकती हैं। प्रारंभ में तो वे ये ही आरोप लगाते रहे कि बाहर की 'आसुरी' शक्तियों ने उनके सामने यह संकट अनुचित रूप से ला दिया है । पर धीरे-धीरे पिछली दो दशाब्दियों में इस बारे में अमरीकियों का आत्म-विश्वास टूट गया है और कम से कम उनके धार्मिक नेताओं ने सामूहिक मानवीय पाप को ज्यादा उग्र तथा समालोचनात्मक रूप से देखना शुरू कर दिया है। पर १९०३ में, जब कि गॉर्डन ने लिखा था, "आशावाद एक ऐसा विश्वास है जिसका आधार सुनिश्चित है," यह कितना ही सत्य क्यों न प्रतीत हुआ हो, अब तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि न केवल आशावाद

का आधार समाप्त हो गया है, अपितु ईसाई श्रद्धा का आशावाद से कोई संबंध भी नहीं है। १९३५ में हैरी एमर्सन फॉस्डिक ने उदारवाद में मानवतावादी प्रवृत्तियों का खंडन किया और आधुनिकवाद से परे के एक धर्म-शास्त्र में विश्वास का समर्थन किया। दूसरे सुधारवादी नेता भी एक अधिक धर्म-शास्त्रीय और सैद्धांतिक संदेश की ओर लौटन के लिए तैयार थे।

लेकिन नव्य उग्रवादी संदेश द्वारा किये जाने वाला खंडन तो स्पष्ट दिखाई पड़ता था जब कि इसकी रचनात्मक दिशाएँ इतनी स्पष्ट नहीं थीं; इसके कृपा के सिद्धांत के बजाय पाप का सिद्धांत अधिक सामने आया हुआ था। तो भी कुछ रचनात्मक बातों की झलक देखी जा सकती थी। यह एक शक्तिशाली प्रोटेस्टेंट या नव्य सुधारवादी धर्म-शास्त्र था। उदार-वाद ने कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों के बीच के सैद्धांतिक अंतर को कम कर दिया था, जिससे आशा बँध रही थी कि सामाजिक प्रश्नों पर कैथो-लिकों का क्रियात्मक सहयोग प्राप्त करने के लिए कुछ आधार मिल सकेगा। अब जब कि धर्म-शास्त्रीय विवाद फिर उठ खड़ा हुआ तो टॉमिज्म के 'युक्ति संगतिवाद' और 'पूर्णतावाद' के मुकाबले मनुष्य के प्रति लूथरन और काल्विनिस्ट दृष्टिकोण और मानव स्वभाव के निराशावादी और युक्ति विरोधी रूप पर बल दिया जाने लगा। समाजवाद के कार्य को छोड़ देने के कारण जिस समय कैथोलिक राजनीति पर प्रहार हो रहा था उसी समय कैथोलिक धर्म-शास्त्र पर भी प्रहार होने लगा। नव्य उग्रवादी आम तौर पर तीव्र समाजवादी थे और उन्हें रोम द्वारा अपने सामाजिक दर्शन की घोषणा किए जाने के बाद ईसाई समाजवाद के नेतृत्व पर कब्जा कर लेने की आशा थी। क्योंकि अमरीका में मार्क्सवाद कुछ कमज़ोर था, इसलिए प्रोटेस्टेंट ईसाई समाजवादियों को अमरीकी श्रमिकों की सहानुभूति प्राप्त करने की पूरी आशा थी। लेकिन ज्यों-ज्यों सैन्यवाद बढ़ता गया और सिद्धांत तथा व्यवहार दोनों में ही समाजवाद ज्यादा पेचीदा होता गया तो इन नव्य उग्रवादियों को अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए

बड़े अस्पष्ट-से बयान देने पड़े। मिले-जुले मामलों के इस संसार में, धर्म की सामाजिक व्याख्या केवल इतना ही कर सकती थी कि वह इस बात में विश्वास बनाए रखे कि मानवीय इतिहास और दिव्य राज्य में कोई संबंध है। पर उसे भी यह तो मानना ही पड़ा कि मुक्ति की 'योजना' स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती। या फिर जैसा कि एक नेता ने स्पष्ट तौर से कहा, "हम में से बहुत-से लोग इतिहास में ईश्वर के उद्देश्यों के प्रति ऐसी वफादारी के आधार ढूँढ रहे हैं जो हमारे समय में परिणामों की आशा पर निर्भर नहीं है।"

इस अर्ध शताब्दी की धर्म-शास्त्रीय विचार-धारा में एक महत्त्वपूर्ण विषय सदा विद्यमान रहा है—वह है प्रायश्चित्त का सिद्धांत। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में नये धर्म-शास्त्र के सब से कठोर संघर्ष इसी सिद्धांत के ऊपर हुए, और इन कटु विवादों के परिणाम स्वरूप ही सारे धर्म-शास्त्र के विरुद्ध आधुनिकवादी प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई। अब,यह माना जाने लगा है कि नैतिक जीवन के लिए धार्मिक कष्ट सहना एक दुखद पर आवश्यक चीज़ है। इसे उद्धार का प्राथमिक रूप माना जाय या नहीं, यह एक अलग बात है। आचार-शास्त्र के केंद्रीय स्थान में क्रूस के फिर आ जाने से पता चलता है कि ऐसे बहुत से उदारवादी क्षेत्रों में जो प्रारंभिक दशकों में विशिष्ट रूप से ईसाई नहीं थे, फिर से ईसाइयत और ईसाई धर्म-शास्त्र का प्रवेश हो रहा है। आमतौर पर ऐसे सामाजिक धर्म-शास्त्र के विकास के प्रयत्न में जिसमें प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक और यहूदियों की सहमति हो, इन तीनों ही दलों की रुचि नहीं रही है। जहाँ कहीं भी सक्रिय धर्म-शास्त्रीय निर्माण होने लगता है, धर्मों के बीच की दीवारें और ऊँची होती जाती हैं, क्योंकि धर्म-शास्त्र के विषय कितने ही सार्वभौमिक क्यों न हों, हर पंथ की प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। मनुष्य जाति पर छाये हुए इस सामूहिक दुःख ने इस संकट का सामना करने के लिए सब धर्मों को नया जीवन दिया है, लेकिन इसकी व्याख्या करने के सबके ढंग अलग-अलग हैं। क्रूस और शहादत के भाव के फिर से आने से प्रोटेस्टेंट,

कैथोलिक और यहूदी धर्म-शास्त्रियों को एकेश्वरवाद के साथ इन कष्टों का मेल बैठाने के अपने-अपने ढंगों को पुनर्जीवित करने की प्रेरणा मिली है, लेकिन साथ ही साथ इसने एक ऐसा 'दुख का समुदाय' भी बना दिया है जो सभी पारम्परिक सीमाओं के ऊपर उठा हुआ है और जो दुःख के सभी धर्म-शास्त्रियों को एक विश्व-बंधुत्व में बाँधे हुए है। इस संकट के कारण प्रत्येक धर्म में अब यह मानने की प्रवृत्ति बढ़ रही है कि सभी मनुष्यों की परीक्षा हो रही है और इसलिए सामान्यतया सभी को धार्मिक भक्ति का सम्मान करना चाहिए।

धर्मशास्त्रीय यथार्थवाद और सत्तावाद (ऐग्जिस्टेंशियलिजम)

उग्रवादी सामाजिक धर्म-शास्त्र में इन प्रवृत्तियों के साथ-साथ धार्मिक विचारों में एक दार्शनिक नवीनता आ गई है। उस निरपेक्ष आदर्शवाद का स्थान जिसने कि उदारवाद का पोषण किया था धर्म-शास्त्रीय यथार्थ-वाद ने ले लिया तथा विकासवादी उत्साह के स्थान पर मनुष्य के सांसारिक संबंधों के सत्तावादी विश्लेषण आ गये। आधुनिक दर्शन में हुए इस विवर्तन का यद्यपि सभी धर्म-शास्त्रियों को ज्ञान है तो भी आये हुए इस परिवर्तन को स्पष्ट रूप से बता सकना आसान नहीं है। क्योंकि कुछ अंशों में यह परिवर्तन बौद्धिक उतना नहीं है जितना कि संवेगी है, और इससे संसार तथा ईश्वर दोनों के ही प्रति एक बदली हुई प्रवृत्ति का पता चलता है।

विलियम जेम्स ने जब से तकनीकी दर्शन और अध्यात्म-शास्त्र के विरुद्ध आंदोलन छेड़ने के बाद से निरपेक्ष आदर्शवाद के विरुद्ध जो प्रति-क्रिया उठ खड़ी हुई थी, वह अब एक सकारात्मक सांसारिक दृष्टिकोण धारण करने लगी थी। ह्वाइट हेड ने एक ब्रह्मांडीय प्रक्रिया के सिद्धांत को लोकप्रिय बनाया जो उभरने वाले विकासवाद का ही एक रूप था। जहाँ कि सैम्युऐल अलेकजेंडर-जैसे पहले के विकासवादी ईश्वर का प्रक्रिया

में चरम परिणति पर पहुँचने वाले तत्त्व का पारम्परिक रूप देते रहे थे, और जहाँ कि हीगल ने 'शाश्वत सत्य' को परिणत होने की प्रक्रिया का उद्देश्य माना था, वहाँ ह्वाइटहेड ने ईश्वर को प्रक्रिया की वास्तविकता के तत्त्व के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार ईश्वर को समय में ले आने से और उसे आदर्शवादी वस्तुओं को सत्य बनाने का सतत, सृजनशील कार्य सौंप देने से बहुत अधिक धर्म-शास्त्रीय अंतर पैदा हो गया। दर्शन में ये दो परस्पर विरोधी विचार-धाराएँ हैं : एक तो वह है जिसमें माना जाता है कि 'शाश्वत पदार्थ' ज़मीन पर उतर आते हैं और इतिहास के अंदर प्रवेश करते हैं, और दूसरी वह जिसमें माना जाता है कि स्वतंत्रता और ज्ञान की प्रगति ज्यों-ज्यों वस्तु रूप में पूर्णता की ओर पहुँचती है त्यों-त्यों विशिष्ट पदार्थ धीरे-धीरे ठोस सामान्यों में बदलते जाते हैं। ह्वाइट हेड के इस वास्तविकतावादी ईश्वर ने यह संभव कर दिया कि (रिशैल से आये) धर्म-शास्त्र का संबंध प्राकृतिक दर्शन से हो सके और अवतार के उस सिद्धांत को जो अब तक बहुत मानवीय प्रतीत होता था, एक ब्रह्मांडीय ढाँचा मिल सके। जोन ड्यूवी के 'ए कामन फेथ' (१९३४) के प्रकाशन से वास्तविकतावादी धर्म-शास्त्र को और प्रोत्साहन मिला, और उसी से यथार्थ और आदर्श के बीच एक तारतम्य का प्रायोगिक और वास्तविकतावादी वर्णन मिल सका।

धर्म-शास्त्रियों ने अब एक ऐसे आम दार्शनिक धर्म-शास्त्र का निर्माण प्रारंभ किया जिससे धर्म-निरपेक्ष यथार्थवादी के नये 'प्रक्रिया दर्शनों' का समन्वय वास्तविक धार्मिक विधियों और विश्वासों के साथ हो सके। इस दिशा में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य प्रयत्न डगलस सी० मैकिनटौश, वाल्टर हार्टन, हेनरी एन वीमेन और चार्ल्स हार्ट शोर्ग ने किये हैं। उनकी प्रणालियों का पर्याप्त वर्णन करना यहाँ कठिन होगा, और उनके बीच के भेदों पर बल देने से भ्रांति ही उत्पन्न होगी। तो भी आमतौर पर कहा जा सकता है कि यथार्थवादी प्रतिक्रिया ने उदारवाद में मानवतावादी धारा को समाप्त कर दिया। नैतिक आशावाद के ह्रास

के साथ ही, ईश्वर की 'मानवता' के सिद्धांत का प्रभाव दार्शनिक धर्म-शास्त्रियों पर कम हो गया। 'श्रद्धा-यथार्थवादियों' द्वारा ईश्वर का चित्रण अब इस रूप में किया जाता था कि वह इस संसार से निरपेक्ष रूप से भिन्न है, सत्ता का अंतिम आधार वास्तविकता का तत्त्व है और स्वप्नों तथा भ्रांतियों से जगानेवाला है। उनके अनुसार ईश्वर मनुष्य और उसके संसार से परे तथा उनके संमुख है, ईश्वर का क्षेत्र न तो प्राकृतिक है, न सामाजिक। यथार्थवाद के एक समर्थक, एल० के० राबर्ट एल० कैलहून के शब्दों में "सब मनुष्यों के मन से परे तथा उनके संमुख एक इस प्रकार का मन है कि उसे आसानी से दिव्य, या ईश्वर कहा जा सकता है। धार्मिक यथार्थवाद के लिए यह कोई मानवीय रचना मात्र नहीं है, अपितु एक ऐसा कठोर परिवेशीय तत्त्व है जो अपने ही तरीकों से मनुष्य की इच्छाओं और उसके तरीकों पर प्रभाव डालता है, उन्हें बनाए रखता है और कुछ अंश में उन्हें नष्ट भी कर डालता है।"

सत्तावाद ने यूरोप के महाद्वीप पर धर्म-निरपेक्ष दार्शनिक क्षेत्रों में प्रमुख स्थान पा लिया था और आदर्शवादी अध्यात्म-शास्त्र पर ऐसा कठोर प्रहार किया था जैसा कि अमरीका में यथार्थवाद ने किया था। यह सत्तावाद अमरीका में एक सुस्पष्ट धार्मिक दर्शन के तौर पर आया। हीगल के डेनिश प्रोटेस्टेंट आलोचक सोरेन कीर्कगार्ड और उसके स्पेनिश कैथोलिक शिष्य मीगैल उनामुनो के बारे में १९३० के दशक में कहा गया कि वह एक उत्कंठित तथा संतप्त चेतना के रूमानी व्याख्याकार हैं, जिस प्रकार की व्यक्तिगत बातें तथा उनका विश्लेषण धर्म-निरपेक्ष साहित्य में फैशनेबल और चिकित्सा विज्ञान तथा नैतिक विज्ञान में महत्त्वपूर्ण हो गया था उन्हें उसने धार्मिक विचारों के लिए उपलब्ध कराया। लेकिन उनके द्वारा किये गए 'मानवीय परिस्थितियों' के विश्लेषण को अमरीका या अमरीकियों के लिए वास्तविक नहीं माना गया। बहुत-से अमरीकियों ने उन्हें अन्य स्थानों के विघटन के लक्षण के रूप में उत्सुकता के साथ पढ़ा तो भी धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों अमरीकी आदर्शवाद का आत्म-विश्वास कम

होता गया, त्यों-त्यों मानवीय परिस्थितियों के बारे में एक सच्ची चिंता बढ़ती चली गई। धर्म-शास्त्रियों और दार्शनिकों के बीच ऐसा आलोचनात्मक साहित्य लिखा जाने लगा जिसने संतुलन, विलगाव, भग्नाशा और अपराध-भावना पर प्रकाश डाला जो कि धार्मिक पुनरुत्थानों में अक्सर दिखाई पड़ जाते थे। इनके बारे में कहा गया कि ये आधुनिक अनुभव संस्कृति के स्थायी तथ्य हैं, और इनसे साबित होता है कि ईसाई तथा यहूदी धर्म-शास्त्र के सिद्धांत कि मनुष्य एक विरोधी संसार में पतित और अजनबी प्राणी है, तथ्य पर आधारित है और यह आज भी उतना ही सत्य है जितना कि पहले था। इस प्रकार जिसे उनाभुनो ने 'जीवन की दुखद भावना" कहा है उसका उदय हुआ, और धर्म-शास्त्र के अंदर पाप, शाप और ईश्वरीय कृपा के द्वारा मुक्ति के बारे में सिद्धांतों के प्रति धर्म-शास्त्रियों के मन में संमान बढ़ने लगा।

सत्तावाद के बारे में पहले तो यह लगा कि यह यहूदी, कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट धर्म-शास्त्रियों को एक दूसरे के निकट ले आयेगा, पर अब इसका प्रभाव प्रोटेस्टेंटों के बीच ही अधिक है। पोप द्वारा १९३० में सत्तावाद की निंदा किये जाने के बाद से तो निश्चय ही सार्वजनिक शिक्षण और धर्म-शास्त्रीय प्रकाशन नियो-टॉमिज्म के घेरे में रहेंगे। लेकिन इस रोमन प्राचीर के पीछे, अन्य युगों की भाँति इस युग में भी आधुनिक विचारों के आधार पर रूढ़िवादिता का पुनर्निर्माण करने के प्रयत्न चलते रहेंगे। केवल पोप की घोषणा के द्वारा मार्टिन ब्यूबर, गेब्रिएल मार्सेल, जैक मैरिटैन, पाल टिलिच और निकोलस बैंडियेफ़-जैसे लेखकों को एक दूसरे पर प्रभाव डालने से नहीं रोका जा सकता। अमरीका में खास तौर पर अंतर्राष्ट्रीय और अंतर्मतीय विचारों के इस आदान-प्रदान के अच्छे परिणाम निकलने की आशा है। इससे उस कट्टर-पंथी आचार पर रोक लग जायगी जिसके लिए कि पोप तथा फंडामेंटलिस्ट लोग प्रार्थना करते हैं और जिसका मेल धर्म-शास्त्रीय या अन्य किसी बढ़ते हुए विज्ञान से नहीं बैठ सकता।

जैसा कि संभव प्रतीत होता है, यदि दार्शनिक धर्म-शास्त्र की वास्तविकतावादी प्रवृत्तियों का अधिक निकट संबंध एक ओर से सत्तावादी सिद्धांत से अधिक हो जाय, और दूसरी ओर ऐतिहासिक तथा सामाजिक धर्म-शास्त्र से तो हमारे समय के एक महान बौद्धिक पुर्ननिर्माण के रूप में एक अमरीकी धर्म-शास्त्र का उदय हो सकता है। दूसरे शब्दों में, पिछले दो दशकों में अमरीकी उस कष्ट को समझने लगे हैं जिनके कारण सत्तावादी धर्म-शास्त्र उत्पन्न हुआ था, और अब वे दुख की इस धार्मिक अभिव्यक्ति को कुछ अनगढ़ आत्माओं की भावनात्मक चिल्लाहट नहीं मानते। दुख के धर्म-शास्त्र (जिनमें प्राचीन ग्रीक ट्रेजेडी का पुनरुत्थान भी संमिलित है) आज हमारे युग तथा हमारी परिस्थितियों के यथार्थ और अतिरंजित चित्रण बन गए हैं। इस बात के जान लेने से हमारे धार्मिक सिद्धांतों को आंतरिक गरिमा और स्थायी बल मिला है कि ऐतिहासिक शाप एक बुद्धि के परे का अनुभव नहीं है; यह एक शताब्दियों के मानवीय संघर्ष का आंतरिक रूप है, और पर्याप्त बनने के लिए हमारे धर्म-शास्त्र के धार्मिक सिद्धांतों को न केवल नया होना चाहिए अपितु उन्हें हमारा संबंध दूसरे राष्ट्रों और भिन्न मतों के साथ भी जोड़ना चाहिए। इससे आम संदेशात्मक साहित्य का समझना भी अधिक सरल हो जाता है। पैगंबरों की आवाज़ बाइबिल की जैसी होनी चाहिए, भले ही उन पर आधुनिकता की छाप पड़ी हो। यह आवश्यक नहीं है कि बौद्धिक पहुँच से परे के एक नये रूप में प्राचीन ईश्वरीय शब्द की व्याख्या दंभ ही हो, जैसा कि उदारवादी मानते थे। यह भी हो सकता है कि यह दुःख से कराहते हुए संसार की सबसे स्पष्ट आवाज़ हो। धार्मिक विचार के इस यथार्थवादी समग्रीकरण की प्रगति ईसाइयों के बजाय यहूदी विद्वानों के बीच अधिक हुई है। यहूदी धर्म के प्रचार के लिए स्थापित सभा ने जो पुर्ननिर्माणवादी आंदोलन चलाया है, उसमें यहूदी धर्म के ऐतिहासिक, दार्शनिक और सामाजिक पहलुओं का एक अनोखे तथा उग्र ढंग में संमिश्रण हुआ है। लेकिन विशेष तौर से

इसका रूप यहूदी सभ्यता और राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं का ही है। इसे सीधे तौर से अधिक व्यापक धर्म-शास्त्र पर लागू नहीं किया जा सकता; साथ ही साथ, अभी रबियों में भी इस बारे में सहमति नहीं है कि बिना विनाशक बने इस प्रकार का पुनर्निर्माण कहाँ तक आगे चल सकता है।

नया मानवतावाद

वर्तमान बौद्धिक स्थिति के अपने वर्णन को पूरा करने के लिए अभी हमें उदारवाद की आलोचना के एक और पहलू का वर्णन करना है। उदारवादियों के एक अल्पमत, उनके आधुनिकवादी पक्ष ने घटनाओं के प्रवाह से यह परिणाम निकाला है कि उदारवाद इसलिए बदनाम हो गया कि यह पर्याप्त उदार नहीं था और यह हमेशा आस्तिकता, राष्ट्रीयता, अतिप्रकृतिवाद, धार्मिक राजनीति और साम्प्रदायिक स्वार्थों के साथ समझौते करता रहा है। उनके विचार से बुद्धि से विमुख होना, ऐतिहासिक मतों का बचाव करना, विश्वास को संस्था का रूप दे देना और धर्मों के बीच में भाईचारे का संमान न होना, ये बातें स्वतंत्र धर्म की मुख्य शत्रु हैं। धार्मिक संस्थाओं में असहिष्णुता और धर्म-शास्त्र के पुनरुत्थान के कारण निराश होकर विभिन्न मतों के इन आधुनिकवादियों ने मानवतावाद के झंडे के नीचे अपना एक संगठन बना लिया। हालाँकि वे एक और नया सम्प्रदाय न चलाने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं और इसीलिए विभिन्न धर्मों के मानवतावादियों के बीच अनौपचारिक साहचर्य को बढ़ावा दे रहे हैं, तो भी वे अधिक शक्तिशाली बनते जा रहे हैं और मिशनरी गति-विधियों के लिए अपना संगठन करने लगे हैं। बौद्धिक रूप से अभी मानवतावाद का अपना कोई रूढ़ स्वरूप नहीं बन पाया है, यद्यपि मानवतावादी सिद्धांतों का प्रचलन हो रहा है और इस तरह एक चौथा मत बनता हुआ दिखाई दे रहा है। १९३३ में सबसे पहले एक मानवतावादी घोषणा प्रकाशित की गई थी जो कि अभी भी इस

दल के द्वारा एक मत विरोधी मत के रूप में काम में लाई जाती है। इसमें धर्म की यह नीचे लिखी परिभाषा सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है :

धर्म में वे क्रियाएँ उद्देश्य और व्यवहार आते हैं जो मानवीय दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हैं। कोई भी मानवीय चीज धर्म के बाहर नहीं हो सकती। इसके अंदर, श्रम, कला, विज्ञान, दर्शन, प्रेम, मित्रता और मनोरंजन का—अर्थात् उन सभी बातों का समावेश होता है जो बौद्धिक रूप से संतोष देने वाले मानवीय जीवन को अभिव्यक्त करती हैं। धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष के बीच के भेद को अब और अधिक बनाये रखा नहीं जा सकता।

यद्यपि धर्म की परिभाषा के रूप में इस घोषणा की आलोचना की जा सकती है, अधिकांश मतों की तरह यह भी धर्म की आम रूप से परिभाषा नहीं करती बल्कि एक विशिष्ट मत के तात्पर्य को बताती है। इस मत में आधारभूत बात यह है कि धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष में विभेद की जगह मानवीय और अमानवीय के बीच का विभेद रखा गया है। मानवतावादियों में ऐसे वामपक्षी एकत्ववादी (यूनिटेरियन) हैं जिन पर एमर्सन के उदारवाद का प्रभाव है और जो उसी की तरह ईसाई दायरों में बंद नहीं रहना चाहते; ऐसे भौतिकवादी हैं जो अब सिद्धांतवादी भौतिकवादी नहीं रहे लेकिन जो 'आत्मा', 'अनैतिक', 'पारलौकिक' तथा 'ईश्वर' आदि शब्दों का प्रयोग करने वाले धर्म-शास्त्रियों पर संदेह करते हैं। वे अधिक धर्म-निरपेक्ष सत्यों के लिए अधिक धर्म-निरपेक्ष भाषा पसंद करते हैं; ऐसे प्रकृतिवादी हैं जो नव्य उग्रवादी धर्म-शास्त्रियों के द्वारा अतिप्राकृतिक प्रतीकों के प्रयोग से खिन्न हो चुके हैं और जिन्हें संगठित धर्म में कोई उपयोगिता दिखाई नहीं देती, लेकिन फिर भी तर्कसंगत जीवन के लिए जिन्हें 'धार्मिक' चिंता है। अब भी कुछ ऐसे पुराने विचारों के युक्तिवादी, स्वतंत्र विचारक या व्यवसायी नास्तिक हैं जिन्हें एक व्यापक धर्म के रूप में मानवतावाद की असफलता पर बहुत अफ़सोस है, और जो अपने आप को धार्मिक मानवतावादी कहलाने के लिए तैयार हैं। ईसाई चर्च, यहूदी धर्म तथा अन्य विशिष्ट धार्मिक संग-

ठनों के अंदर उदार विचारों वाले ऐसे बहुत-से व्यक्ति हैं जिन्हें अपने संगठन की संकुचितता पर बुरा लगता है और जो मानवतावादी समाज में शामिल होकर अपने व्यक्तिगत, अधिक विस्तृत विश्वास का प्रदर्शन करते हैं। और ऐसे भी बहुत-से व्यक्ति हैं जिन्हें किसी भी मत का नहीं बताया जा सकता क्योंकि उनका मन न तो किसी धार्मिक संगठन में लग सकता है और न धर्म-निरपेक्ष रुचियों के निष्प्राण संसार में। तो भी 'मानवीय व्यक्तित्व की पूर्ण प्राप्ति' और 'एक स्वतंत्र सार्वभौमिक समाज' को बढ़ावा देने की अपनी तीव्र इच्छा को वे प्रकट करते ही रहते हैं। साहचर्य, शिक्षण, प्रकाशन और सामान्य हितों को बढ़ावा देने के काम में, इन विभिन्न प्रकार के उदारवादियों को पास-पास लाने में मानवतावादी समाजों को सफलता मिली है। सदस्यता की संख्या छोटी होने के बावजूद एक स्वतंत्र धार्मिक आंदोलन के रूप में मानवतावाद का फिर से प्रकट होना महत्त्वपूर्ण है। यह इस बात का प्रमाण है कि आधुनिकवादी उदारवाद अभी भी एक सकारात्मक धार्मिक विश्वास के रूप में जीवित है, और 'कनफर्मिस्ट' दिमाग को दार्शनिक जैसे हद दर्जे के व्यक्तिवादी मालूम पड़ते हैं वास्तव में वे वैसे नहीं हैं। पारम्परिक धार्मिक घेरे के आराम में रहनेवाले लोगों को स्वतंत्र देश में स्वतंत्र धर्म का सामना करना पड़ता है। हालांकि सामाजिक बौद्धिक जीवन बिताने वाले लोगों को स्वतंत्र विचारक धार्मिक अनाथ या आवारा मालूम पड़ सकते हैं, पर वास्तव में इन स्वतंत्र आत्माओं ने अपने भ्रमण तथा खोज में अनेक मसीहा पैदा किये हैं, और प्रकाश की प्राप्ति और भाईचारे को लाने में बहुत सहायता की है।

धार्मिक मानवतावादी आंदोलन से कम संगठित तथा कम स्पष्ट रूप में विद्यमान धार्मिक धर्म-निरपेक्षवादियों की एक बड़ी संख्या भी है। उनके विचार से धर्म-निरपेक्षवाद का मतलब न तो धर्महीनता से है और न धार्मिक उदासीनता से, बल्कि इसका संबंध कुछ मूल्यों और संस्थाओं से है जिन्हें वे, सब संगठित धर्मों के मुकाबले पवित्र मानते हैं। वे अपने

आप को प्रजातंत्र, स्वतंत्रता और विज्ञान का समर्थक मानते हैं और अक्सर टामस जैफर्सन की भावना की अपने अमरीकी संरक्षक संत के तौर पर अपील करते हैं। धार्मिक संस्थाओं के वे आमतौर पर विरोधी होते हैं और वे विश्वास करते हैं कि एक ऐसे 'सामान्य मत' की अभिव्यक्ति संभव है जिसके प्रति सभी स्वतंत्र आत्माएँ वफादार हों, और जो उन लोगों में एकता पैदा कर सके जिन्हें संगठित धर्म ने बाँट दिया है।

कितने ही सुधारकों और मसीहाओं को इसलिए सताया गया और शहीद बना दिया गया कि उन्होंने धार्मिक बचकानेपन के अवशेषों को दूर करने का प्रयत्न किया था। एक परिपक्व मन को रूढ़िवादिता के जाल कैसे बचकाने मालूम पड़ते हैं! परम्परावादी और फंडामेंटलिस्ट लोग कितनी जल्दी ऐसे सिद्धांतों और धर्म के स्वरूपों से चिपक जाते हैं जिन्होंने आधुनिक मनुष्य का हार्दिक सहयोग प्राप्त करने की अपनी शक्ति खो दी है। क्या अब वह समय नहीं आ गया है कि हम लोग प्रौढ़ों का एक धर्म तय करने और उसका पालन करने के प्रयत्न में एक होकर जुट जायें?

होरेस एम० कैलन ने अपनी पुस्तक 'ऑफ़ क्लैरिकलिज्म एंड सेक्युलरिज्म इन रिलिजन' में इस प्रकार के धर्म का प्रतिनिध्यात्मक रूप सामने रखा है। लेकिन धार्मिक रूप से 'संबद्ध' लगभग ३० प्रतिशत लोगों में से कितनों की ओर से वह बोल रहा है, यह कहना कठिन है। फिर भी हमें यह अवश्य मानना पड़ेगा कि 'धर्म-निरपेक्षवाद' एक सकारात्मक मत के रूप में विद्यमान है, यद्यपि यह असंगठित है और धर्म-शास्त्रीय रूप से सुस्पष्ट नहीं है तो भी यह 'ईश्वर हीन' नहीं है, और न यह धार्मिक रूप से निरक्षर ही है। साहित्यिक विद्वानों, राजनैतिक क्षेत्रों, समाजविज्ञानियों और भूतपूर्व मार्क्सवादियों में इसके बहुत-से अनुयायी हैं। पादरी लोगों का लाभ लिये बिना धर्म ऐसा लगता है जैसे मुफ्त मिल गया हो, लेकिन चर्च के लोगों द्वारा यह जो कहा जाता है कि ऐसा धर्म 'आरामतलब चेतना' का द्योतक है, यह बात आम तौर पर

निराधार होती है। एक पर्यवेक्षक को मुख्य कठिनाई इस बात के जानने में मालूम देती है कि धर्म और धर्महीनता के बीच रेखा कहाँ खींची जाय। क्योंकि जैसा कि मैयर शापिरो ने ठीक ही कहा है, "अब धर्म के भी भाई-बंधु होने लगे हैं।"

सार्वजनिक पूजा तथा धार्मिक कला की प्रवृत्तियाँ

धर्म-शास्त्र के दो काम हैं, एक तो इसे धार्मिक विश्वास को ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ चलाना होता है, और दूसरे पूजा के किसी विशेष प्रकार को समझ में आने योग्य बनाना होता है। इस शताब्दी के प्रारंभ में धर्म-शास्त्र पूजा के बजाय विज्ञान के प्रति अपने कर्त्तव्य में अधिक जागरूक था। सिद्धान्त और विधि-विधान में परस्पर अलगाव-सा हो गया था, सिद्धान्त (जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा है), विज्ञान और दर्शन के साथ चल रहा था, जबकि विधि-विधान ने सामाजिक सेवा का पल्ला पकड़ लिया था। अपने इस विचलन में दोनों ने एक दूसरे की आवश्यकता को समझ लिया है, और उनके वर्तमान मेल-मिलाप ने दोनों को ही नई शक्ति दी है। धर्म-शास्त्री तथा जन-साधारण दोनों ही अब इस बात को समझने लगे हैं कि पूजा धर्म का प्राण है, और वे इसे आन्तरिक कृपा का बाह्य साधनमात्र नहीं मानते। अब वे इसे अपने अन्दर एक साध्य मानवीय विषय मानने लगे हैं जिससे जीवन को गरिमा तथा अमरीकी जीवन को सम्पन्नता मिलती है। पूजा के लिए इस चेतन संकल्प का सृजन बीसवीं सदी की एक अमरीकी उपलब्धि है, और मैं समझता हूँ कि इसके मूल में हमारे समय का दुःख है। एक बुद्धिमान फ्रेंच आदमी ने कहा था, "अनुभव हमें सिखाता है कि जल्दी या देर में हमें घुटने टेकने ही पड़ते हैं, और ईश्वर के सामने घुटने टेकने में सबसे कम शर्मिन्दगी उठानी पड़ती है।" अब अमरीकी लोग भी पूजा के कर्त्तव्य के बजाय उसकी धार्मिक आवश्यकता को समझने लगे हैं, और अपने चर्चों तथा मन्दिरों में एक ऐसे ईश्वर की पूजा करने वे वापिस आ गये हैं,

जिसके प्रति उनके मन में भय तथा प्रेम दोनों हैं। इस प्रकार संजीदे बना दिए जाने के बाद और घुटने टेक देने के बाद, आज के अमरीकी अपने पुरखों के मुकाबले में सार्वजनिक पूजा की अधिक माँग कर रहे हैं।

पूजा की कला में पारम्परिक अविश्वास

यहाँ उन पूर्वग्रहों और रुकावटों की व्याख्या करना आवश्यक है जिनके कारण पचास वर्ष पहले धार्मिक लोगों के बीच भी पूजा का ह्रास हुआ, और जो पूर्वाग्रह और रुकावटें अभी भी आबादी के एक बड़े भाग में चली आ रही हैं। पूजा की कला के चेतन विकास के मार्ग में आयीं इन बाधाओं को समझने से ही, उस सृजनात्मक काम की सही ढंग से सराहना हो सकेगी जो पिछले वर्षों में किया गया है।

पहले तो प्यूरिटन लोगों के बीच औपचारिकताओं और विधि-विधानों के प्रति लंबे समय से चला आ रहा पूर्वग्रह है जिनमें से 'पोप-वाद' की गंध आती है। १९४७ के 'एनसाइक्लिकल मेदियातर दी' (Encylical Mediater Dei) में पोप के पूजा संबंधी सिद्धांत का फिर समर्थन किया गया है। पूजा का आम उद्देश्य "ईश्वर का यश फैलाना और मनुष्य का पवित्र करना" बताया गया है। पोप ने आगे इसकी इस प्रकार व्याख्या की है : "यद्यपि सार्वजनिक पूजा व्यक्तिगत पूजा से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ है, तो भी व्यक्तिगत पूजा के द्वारा आदमी इस योग्य हो जाता है कि वह सार्वजनिक पूजा के पवित्र करने वाले प्रभाव को ग्रहण कर सके।"

पूजा ईश्वर का यश फैलाने के लिए की जाती है——यह तो आम-तौर से माना ही जाता था, पर प्यूरिटन लोगों ने इस घोषणा को बहुत नापसन्द किया कि सार्वजनिक पूजा व्यक्तिगत पूजा से ज्यादा श्रेष्ठ है। प्यूरिटन लोगों ने अपने चर्चों की न केवल साज-सज्जा ही यहाँ तक हटा दी कि वे विद्यालय-कक्ष या संमिलन-कक्ष से दिखने लगे, अपितु उन्होंने दावत, उपवास, विवाह और अंत्येष्टि को सार्वजनिक रूप से मनाने में

भी भाग लेना बंद कर दिया। वे अपने अंदर सादगी, कष्ट सहिष्णुता और समग्रता पैदा कर रहे थे और उनकी कला में (विशेषकर उनकी स्थापत्यकला और उनके उपदेशों में) इसकी झलक स्पष्ट दिखाई देती है। इसके ही अनुसार उनकी सार्वजनिक सभाओं में आमतौर पर प्रशिक्षण दिया जाता था, और उनके पादरी मुख्य रूप से अध्यापक ही माने जाते थे। सार्वजनिक प्रार्थना मुख्यतः शिक्षणात्मक होती थी; यह इसलिए ही थी कि मनुष्य ईश्वर के निकट आयें (क्योंकि उसकी उपस्थिति में तो वे प्रतिदिन काम करते ही थे) अपितु इसलिए थी कि वे धार्मिक शब्द और कानून की व्याख्या सुनने के लिए एकत्र हों।

इस बात में उनकी यहूदियों के साथ बहुत समानता है। यहूदी मंदिर में होने वाली धार्मिक विधियों और शिक्षण केंद्र में होने वाली अध्ययन-विधियों में स्पष्ट अंतर करते हैं। इसलिए व्यवहार में पुरोहित का दर्जा और प्राचीन बलि की विधियाँ एक अन्य प्रकार की पवित्रता के अधीन रहती हैं जिन्हें वे 'कानून के प्रति प्रेम' के नाम से पुकारते हैं। सामूहिक जीवन के इस प्रकार के नैतिकवादी और शिक्षणात्मक भाव अमरीका में आमतौर पर ऐसे लोगों के बीच भी फैले हुए हैं जो प्यूरिटन लोगों के या प्राचीन इज़राइल के तौर-तरीकों से परिचित नहीं हैं। सिर्फ इसीलिए कि ये संमिलन-स्थान 'मनुष्य के आविष्कार' हैं, बाइबिल की संस्थाएँ नहीं हैं, इन्हें 'सच्चे' धर्म से बाहर का समझा जाता है। और जिस दिखावे के साथ ये सार्वजनिक पूजाएँ की जाती हैं वह स्पष्ट ही मनुष्यकृत होने के कारण पवित्रता का एक विकृत रूप प्रतीत होता है; ऐसा लगता है कि कृत्रिम अलंकारों को ज़बर्दस्ती धार्मिक कर्तव्य का रूप दे दिया गया है। 'ईश्वर तुझ से क्या चाहता है ?' केवल इसका महत्त्व है, शेष आवश्यक है। "इस बात पर बल देने की आवश्यकता है कि विधि-विधान धर्म नहीं है। इससे केवल धर्म के महत्त्व का पता चलता है और उसे औपचारिक रूप से मनाने में सहायता मिलती है––यह केवल एक संगठित धर्म की एक तकनीक है" ये शब्द यद्यपि एक यूनिटेरियन हेरोल्ड

स्कॉट द्वारा लिखे गए थे, पर ये अधिकांश अमरीकी प्रोटेस्टेंटों की राय प्रकट करते हैं। मैंने एक फंडामेंटलिस्ट उपदेशक को अपने उपदेश की चरम सीमा पर बड़े ज़ोर से यह कहते हुए सुना है, "भाइयो, मैं तुम्हें बताता हूँ कि ईश्वर को धर्म से घृणा है, वह तो श्रद्धा चाहता है।" बहुत-से श्रद्धावान तथा श्रद्धाहीन दोनों प्रकार के अमरीकियों में यह भाव पाया जाता है कि धर्म का सच्चा तात्पर्य धार्मिकता से है और विधि-विधान या तो मूर्तिपूजा है या फिर मूर्खता।

पूजा के शिक्षणात्मक भाव का उस अवैयक्तिकता से विरोध है जिसकी आवश्यकता सार्वजनिक प्रार्थना में पड़ती है और इसका सम्बन्ध केवल रुचि से ही नहीं है। अमरीका में प्रोटेस्टेंट आचार-शास्त्र व्यक्तिवादी रहा है, और उसके द्वारा मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध की व्याख्या व्यक्तिगत तौर पर की गई है। पणिामतः कृपा के अवैयक्तिक माध्यम और ध्यान के प्रकार न केवल अरुचिकर औपचारिकता प्रतीत होते हैं बल्कि उनसे घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्बन्ध में व्यवधान पड़ता मालूम होता है। एक नम्र समाज की 'सुविधाओं और सौजन्यों' के प्रसंग में पूजा को ला बिठाना अमरीकी जीवन की अनौपचारिकता को अरुचिकर प्रतीत होता है, और उसमें से दम्भ की बू आती मालूम पड़ती है। विधि-विधान के कारण किया गया त्याग सच्चा त्याग नहीं है और न इस प्रकार की गई तपस्या में ही कोई अर्थ दिखाई पड़ता है।

इन्हीं कारणों से औपचारिक पूजा और प्रार्थना को चलाने के लिए जिस 'व्यावसायिकता' की आवश्यकता थी उससे प्रोटेस्टेंट पादरी घृणा करते थे। "एक अच्छे पादरी को सार्वजनिक रूप से ईश्वर या लोगों को यह बताना नहीं पड़ता कि कितनी ही सुबह पवित्र से पवित्र लोगों या चीज़ों के साथ व्यवहार करते हुए उसे अन्दर-अन्दर कितनी ग्लानि हो रही होती है। लेकिन इस आवश्यक अनुशासन और दम्भ के दैनिक क्रम में कोई ज्यादा अन्तर नहीं है।" दम्भ के प्रति यह घृणा (जिसने कि एमर्सन को पादरी मण्डली से निकलवा दिया था। अब भी पादरी

के काम में, तथा व्यावसायिक 'अभिनय' जैसे लगने वाली पूजा के मार्ग में एक बड़ी रुकावट है।

अमरीकी लोगों की इस प्रवृत्ति से उस प्रभाव के बारे में भी पता चल जाता है जो उपदेशक मिशनों और धर्मोपदेशीय अपीलों का जनता के एक बड़े भाग पर है। बिली ग्राहम-जैसे उपदेशक रेडियो और प्रेस से तथा चर्च के बाहर की वेदियों से मनुष्यों को व्यक्तिगत रूप से 'ईसा के पास आने' का उपदेश दे सकते हैं। उनका बल चर्च की प्रक्रियाओं या धार्मिक शिक्षा के बजाय बाइबिल के अध्ययन पर होता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऐसी अपीलें पुराने धर्म के नाम पर की जाती हैं और ऐसे उपदेश पूजा के बजाय मनोरंजन के अधिक निकट समझे जाते हैं। आजकल सामग्री वही रहने के बावजूद पुराने शास्त्रों का एक नया रूप हो गया है; उनका मूल्य अब प्राचीन वस्तुओं का-सा बढ़ गया है। अमरीकी लोगों में इस प्रकार की एक सच्ची भावुकता है और स्वभावतः उनकी पूजा पर इसकी छाप पड़ी है।

संगठित धर्म का प्रकार होने के कारण सार्वजनिक पूजा के प्रति अविश्वास ऐसे लोगों में भी पाया जाता है जिन्हें समाजशास्त्री पंथ कहते हैं। पंथों में विधि-विधानों की विशेष आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि उनके पास एक विशेष दिव्य ज्ञान होता है इसलिए उन्हें साधारण पूजा की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे चुने हुए मनुष्य हैं और सूक्ष्म सत्य का प्रचार करते हैं। 'जेहोवाज़ विटनेस' में जज रदर फोर्ड कहता है कि "संगठित धर्म ईश्वर का नहीं हो सकता धर्म वास्तव में ईसाइयत का सदा रहनेवाला शत्रु है।" ईसाइयत के जन्म के समय के समान यह भविष्यदर्शी आंदोलन 'संगठित धर्म' का खंडन करते और दृष्टि या ईश्वरीय प्रकाश की एक ऐसी व्यापकता सामने रखते हैं, जो स्वीकार कर लिए जाने पर पारम्परिक पूजा को बिल्कुल पुराना बना देगी। जिस प्रकार इन आंदोलनों में भ्रम के दूर होने और सत्य की माँग को संतुष्ट करने में चर्चों के असफल हो जाने का बार बार वर्णन किया जाता है उससे यह

तो पता चलता ही है कि सार्वजनिक पूजा अपर्याप्त है। ईश्वर के अधीन हो जाने में एक आंतरिक तथा स्वाभाविक आरण्यकता है और यह धार्मिक प्रदेश अभी अमरीका से पूरी तरह लुप्त नहीं हुआ। ईश्वर में विश्वास करने और धर्म में विश्वास करने में जो महान् अन्तर है उसका ज्ञान यह उन लोगों को करा देता है जो 'संगठित धर्म' को पनपाना चाहते हैं और पूजा के लिए कृत संकल्प हैं।

यह आमतौर से माना जाता है कि पूजा का भाव स्वाभाविक रूप से उदय होता है, और पूजा के लिए दी जाने वाली शिक्षा इसे बिगाड़ देती है। प्रोफेसर जोसे ने लिखा है, "धार्मिक भक्त के हृदय में पूजा का भाव ऐसे ही स्वाभाविक रूप से उदय होता है जैसे कि उस तरुण के हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है, जिसने किसी युवती के सौन्दर्य से प्रेरणा पायी है।... ...... पूजा के भाव के न उदय होने से यही पता चलता है कि उस व्यक्ति के धर्म में एक बहुत बड़ी कमी है जो कि केवल पूजा के महत्त्व पर बल देने से ही पूरी नहीं की जा सकती।" यह बात सच हो सकती है, लेकिन इसमें इस तथ्य की उपेक्षा कर दी गई है कि यदि 'धार्मिक भक्त के हृदय' को ऐसा ही अविचारपूर्ण रहने दिया जाये जैसा कि 'तरुण का हृदय' होता है, तो पूजा बिल्कुल एक 'स्वाभाविक' आवेश में समान हो जायेगी और ईश्वर की पूजा तरुणाई की पूजा के समान ही रोमानी होने लगेगी। आमतौर से यदि कोई व्यक्ति धार्मिक परिवेश के पैदा हो तो उसके लिए पूजा एक आदत के तौर पर शुरू होती है यह स्वाभाविक के बजाय पारम्परिक अधिक होती है, और जब कोई व्यक्ति बौद्धिक परिपक्वता प्राप्त करता है तो और आदतों के समान वह इसे भी आलोचना की दृष्टि से देखता है। अतः इसका मूल्यांकन पूजा की भावना के अनुसार ही होना चाहिए न कि, जैसाकि प्रो० जोसे ने ठीक ही कहा है, जीवन को समृद्ध करने या चरित्र को दृढ़ करने के आधार पर। लेकिन बहुत-से लोगों का विश्वास है कि जानबूझकर पूजा के भाव को उत्पन्न करना अव्यावहारिक है और इससे पवित्र आत्मा के कार्य में रुकावट

पड़ती है। यह अमरीकी भावुक तथा व्यक्तिवादी परम्परा के अनुकूल ही है कि कालरिज की कविता का अन्तिम छन्द सबके लिए इतना परिचित हो :

वही प्रार्थना अच्छी करता है जो अच्छा प्यार करता है
सभी छोटी और बड़ी चीज़ों को;
क्योंकि उसी ईश्वर ने जो हमें प्यार करता है
ये सब चीज़े बनाई हैं और वे उसे प्रिय हैं।

इसी कविता के पहले छन्द में एक विदेशी ध्वनि है :

विवाह के भोज से भी बढ़ कर,
मुझे कहीं अधिक प्रिय है,
कि मैं चर्च तक जाऊँ
एक अच्छी संगति में।

दूसरी ओर कैथोलिक और ग्रीक आर्थोडाक्स लोगों में एक भिन्न प्रकार का ही विश्वास पाया जाता है कि ईश्वर ने स्वयं ही पूजा की विधि की कठोर सीमाएँ निश्चित कर दी हैं क्योंकि उसने सार्वजनिक पूजा के लिए एक विशेष प्रकार के ही विधि-विधान का आदेश दिया है। उन चर्चों में भी जो कि सार्वजनिक पूजा को कोई दिव्य क्रिया नहीं मानते, पारम्परिक रूपों के लिए इतना आदर है कि सार्वजनिक पूजा की कला के उनके आदर्श वस्तुतः रूढ़िवादी हो जाते हैं। अधिकांश विश्वासी लोग तो यह मान लेते हैं कि पूजा के उनके प्रकार सभी समय के लिए एक बार निश्चित हो चुके हैं, इसलिए उनका मानना धार्मिक अभिव्यक्ति का एक रूप न होकर एक धार्मिक कर्त्तव्य है। इसी में धार्मिक कृत्यों के जादुई प्रभाव में आम प्रचलित विश्वास भी जुड़ जाता है जिससे पूजा में उपयोगितावाद की स्वीकृति मालूम पड़ने लगती है।

सबसे गंभीर बात शायद यह है कि परिष्कृत रुचि वाले और कलाओं की शिक्षा पाये हुए लोग यह समझने लगे हैं कि पूजा की विधियां हद दर्जे की पुरानी हैं। चर्चों की जो दशा आजकल है उसे देखते हुए यह नहीं

कहा जा सकता कि विरोध की यह आवाज केवल द्वेष या पक्षपात के कारण है। नई शराब को पुरानी बोतलों में डालने से क्या फायदा ? कुछ आधुनिक ढंग के चर्च का निर्माण, किसी आधुनिक भक्ति गीत का गाना, कभी-कभी धार्मिक अभिनय या नृत्य कर लेना या क्रूस को और सुन्दर शकल में खड़ा कर देना—ये सब बातें कला की आत्मा में केवल कृत्रिम प्रवेश हैं। वास्तव में धर्म अब सृजनशील नहीं रहा है और सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति में धर्म-निरपेक्ष कलाओं के साथ मुकाबला करने की कोशिश भी नहीं कर रहा है। इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में बहुत-से उदार-वादी पादरियों के मन में भी ऐसा सन्देह रहा था, और चर्च की प्रार्थना को आकर्षक बनाने के बजाय उन्होंने पारम्परिक पूजा के लिए कुछ स्थानापन्न चीजें खोजने का प्रयत्न किया।

सार्वजनिक पूजा में रुचि की वृद्धि

'इन कठिन बाधाओं के बावजूद, धार्मिक कलाकारों को (यदि उन्हें यह नाम दिया जा सके) पूजा के आन्तरिक मूल्यों की सराहना का स्तर उठाने, और हमारी संस्कृति के अनुरूप अभिव्यंजक स्वरूप वाली धार्मिक विधियों का पुनर्निर्माण करने में बहुत अधिक सफलता मिली है।

पूजा की विधि का पुनर्निर्माण करने की प्रारंभिक प्रेरणा विदेश से आयी। कैथोलिक मत में लिटर्जिकल मूवमेण्ट (सार्वजनिक पूजा का आन्दोलन) एक शताब्दी से चला आ रहा है, जिसे इसकी प्रेरणा 'आक्स-फोर्ड मूवमेण्ट' और डॉम प्रोस्पर गेरांजर के लेखों से मिली थी। पहले में चर्च द्वारा 'ईसा के रहस्यवादी शरीर' के रूप में ईश्वर की सामूहिक प्रार्थना पर बल दिया गया था, जबकि गेरांजर ने फ्रांस में ग्रिगोरियन संगीत तथा अन्य प्राचीन सार्वजनिक रूपों का पुनरुद्धार किया। पोप का संरक्षण मिलने पर यह आन्दोलन अमरीका में भी बीसवीं सदी के प्रारं-भिक भाग में फैला। इस आन्दोलन के सामने दो मुख्य उद्देश्य हैं जिनमें भ्रांति होने से दोनों की ही पूर्ति में बाधा पड़ सकती है : एक तो है

पूजा के विकास के लिए सार्वजनिक कलाओं की उन्नति, और दूसरा है कैथोलिक कलाकारों का संरक्षण और कला की समालोचना तथा सराहना के कैथोलिक स्कूल का विकास। इन दो उद्देश्यों के मिश्रण से धार्मिक ड्रामा की कला का विकास हुआ है। पूजा और मनोरंजन के ये संमिश्रण मध्ययुगीन संस्कृति के तो महत्त्वपूर्ण अंग थे ही; और अब भी कोई कारण नहीं कि ये आधुनिक पोशाक में दुबारा न रह सकें। पर आजकल तो उनकी दशा कुछ शोचनीय-सी है क्योंकि वे मनोरंजन की धर्म-निरपेक्ष कलाओं के साथ प्रतिस्पर्धा करने का बड़ा स्पष्ट प्रयत्न कर रहे हैं। यह सत्य है कि अन्तिम भोज के बलिदान की कथा बहुत नाटकीय है, और यह भी सत्य है कि पूजा में कुछ आन्तरिक सौन्दर्यात्मक मूल्य होना चाहिए, पर कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति ही दोनों को बिगाड़े बिना सार्वजनिक पूजा के लिए आवश्यक रूपों का सम्बन्ध थियेटर की तकनीकों से कर सकता है। जब नाटक तो बिल्कुल पारम्परिक हो जायँ, जैसा कि सार्वजनिक पूजा को होना चाहिए, और जब पूजा ओपेरा-जैसी हो जाय जैसा कि नाटकीय संगीत हो जाता है तो परिणाम न तो धार्मिक रूप से, और न ही कलात्मक रूप से प्रभावशाली होते हैं। 'पार्सिफल' में दिखने वाले वैगनर से अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति ही ईसाइयत के सार को स्टेज पर प्रस्तुत कर सकता है। टी० एस० ईलियट का 'मर्डर इन दि कैथेड्रल' एक प्रभावशाली नाटक है, विशेष तौर जब कि यह किसी चर्च में खेला जाय, लेकिन लेखक इसे कभी भी पूजा का एक प्रकार मानने के लिए तैयार नहीं होगा। जो आवेशात्मक नाटक मैंने देखे हैं उनमें लोक-कला के एक रूप के तौर पर कुछ रोचकता अवश्य है, लेकिन वे आवेशात्मक नाटक होने के बजाय करुण मूक अभिनय अधिक प्रतीत होते हैं। तो भी यह कहना अनुचित होगा कि कला के विभिन्न रूपों का प्रयोग पूजा की विधि के तौर पर नहीं हो सकता। लेकिन इस प्रकार के धार्मिक कृत्यों के स्वरूप का विकास जीवित संस्कृति के सच्चे रूपों के पवित्र बनाए जाने के द्वारा होना चाहिए न कि पुराने रूपों के प्रवेश कराए जाने के द्वारा चाहे उनमें कितना ही स्थायी सौन्दर्यात्मक मूल्य क्यों न हो।

धर्म कला का जितना चाहे, या जितनी कलाओं का चाहे उपयोग कर सकता है, लेकिन पूजा की कला एक विशिष्ट उपलब्धि बनी ही रहती है। सब मिलाकर, पूजा की इस विशिष्टता की लोकप्रिय सराहना को फैलाने में 'कैथोलिक लिटर्जिकल मूवमेण्ट' को बहुत सफलता मिली है; और यह सफलता ऐसे लोगों में भी मिली है जो पूजा कैथोलिक धार्मिक कृत्यों को 'मध्ययुगीन' मानते हैं। वास्तव में सार्वजनिक पूजा की कला के विकास में एक खतरा पुराने रूपों से प्रेम भी है, और पोप की घोषणा 'एन्साइक्लिकल मेदियातर दी' का एक उद्देश्य भाषा के पुराने प्रयोग या स्थानीय बोलियों के प्रयोग के प्रति विरोध प्रकट करना भी था। दूसरी ओर, इस प्रकार के नियमों से केवल पारम्परिक मानदण्डों को ही सहारा मिलेगा, और सार्वजनिक पूजा की कला की प्रगति बहुत सीमित क्षेत्र में ही हो सकेगी। अपनी प्रकृति के कारण ही 'पवित्रीकरण' की कला धर्म-निरपेक्ष कलाओं में कम स्वतंत्र है, और इसे पवित्र समझी जाने वाली प्रत्येक वस्तु का संमान करना होता है। इस तथ्य से लोक कला को ग्रीगोरियन भजनों में सामूहिक भाग लेने की प्रथा को और लोकप्रिय उत्सवों तथा पारम्परिक भक्ति को बल मिलता है।

इस सम्बन्ध में हमें 'इवेंजेलिकल रिफार्म्ड चर्चिज' के बीच चल रहे सार्वजनिक पूजा सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण अमरीकी आन्दोलन का वर्णन करना है। यह १८१७ में 'मर्सेर्स बर्ग थियालोजी' के संबंध में उठा था। 'मर्सेर्स बर्ग स्कूलों' के नेविस, शॉफ् तथा दूसरे सदस्यों द्वारा आलोचनात्मक तथा सृजनशील सार्वजनिक पूजा के रूपों पर दिया गया बल पहले केवल स्थानीय घटना ही मालूम पड़ता था, लेकिन पिछले दो दशकों में इसे नया जीवन मिला है और इसके द्वारा 'इवेंजेलिकल रिफार्म्ड चर्चेज़' में सार्वजनिक पूजा संबंधी विकास की एक आम प्रेरणा मिली है जो कि इन चर्चों के बाहर भी फैल सकती है।

एपिस्कोपल चर्च में 'हाई चर्च मूवमेण्ट' के नाम से चलने वाला आन्दोलन भी सार्वजनिक पूजा संबंधी ही है जिसका प्रभाव अमरीका के प्रोटेस्टेंट

चर्चों की पूजा-विधि पर भी पड़ा है। अमरीका में इस आन्दोलन का इतिहास समझने के लिए हमें १९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक समय अथवा बिशप हौबार्ट के दिनों तक जाना पड़ेगा लेकिन १९१६ में आकर ही, जब कि प्रार्थना-पुस्तक को दोहराने के लिए बनाये गये एक आयोग ने सार्वजनिक-पूजा में रचनात्मक परिवर्तनों पर बल दिया तभी 'ब्रोड चर्चमैन' ने 'हाई चर्चमैन' के साथ इस बारे में सहयोग किया। इस सहयोग से न केवल १९२८ की प्रार्थना-पुस्तक निकली अपितु धर्मशास्त्र में तथाकथित उदार कैथोलिकवाद की प्रवृत्ति भी आयी, जिसका मतलब है कि ऐतिहासिक समालोचना के क्षेत्र में आधुनिकवाद को और पूजा की कला के क्षेत्र में विधि-विधानवाद को स्वीकार कर लिया गया था। इस प्रकार इस नई प्रार्थना-पुस्तक में भक्ति-गीतों का आलोचनात्मक संग्रह किया गया ताकि इनके ज्यादा गैर ईसाई भाग सार्वजनिक प्रार्थना से हटाए जा सकें।

पूजा और चर्च के प्रशासन में एपोस्टलिक अधिकारवाद और बाइबिल के धर्म-शास्त्र सिद्धान्तों में आधुनिक उदारवाद के ऐपिस्कोपल सम्मिश्रण से कई मतों के प्रोटेस्टेंट पादरियों को एक लोकप्रिय उदाहरण ऐसा मिल गया है जिसके आधार पर वे सार्वजनिक पूजा को ईसाई परम्परा और एक सीमा तक वेदी के स्वतंत्र उपयोग की अभिव्यक्ति का साधन मान सकते थे। इससे 'ईश्वर के शब्द' को एक अवैयक्तिक गरिमा और प्रामाणिकता मिल गई जो कि आमतौर पर उपदेशों में नहीं मिल पाती थी। सामाजिक सिद्धान्तों को भी सार्वजनिक पूजा के प्रसंग में लाने का प्रयत्न किया गया है जो कि रोम की आज्ञा मानने के बजाय कैथोलिक होने का प्रमाण अधिक है। इस प्रकार एपिस्कोपल चर्च में १९३९ में 'सोसायटी ऑफ दि कैथोलिक कामनवेल्थ' की स्थापना की गई जिसमें पादरी और जन-साधारण इस बात के लिए शामिल हुए कि वे 'सामाजिक पूजा सम्बन्धी कैथोलिक विश्लेषण को धर्म-निरपेक्ष और आर्थिक प्रक्रियाओं पर लागू कर सकें।"

इसी बीच मैथडिस्ट चर्च में अपने ही ढंग से सामाजिक पूजा सम्बन्धी

पुनरुत्थान हुआ। इसने चर्च के प्रशासन के सिद्धान्त के रूप में एपोस्टलिक उत्तराधिकार का खण्डन किया और खुले तौर प्रजातंत्रीय रूप ले लिया। १९४४ में 'दि बुक ऑफ वर्शिप फार चर्च एण्ड होम' को बढ़ाकर एक प्रार्थना-पुस्तक जैसा बना दिया गया। इसी बीच बड़े चर्चों में संगीत, धार्मिक पोशाक, और प्रार्थना का प्रकार ज्यादा और ज्यादा विधि-विधानों से जकड़ा जा रहा था।

आजकल रोमन कैथोलिक चर्च में पूजा पर धर्मोपदेशीय बल, और धर्मोपदेशीय चर्चों में सार्वजनिक पूजा की ओर झुकाव के रूप में एक अजीब विरोधाभास पाया जाता है। हो सकता है कि वे एक दूसरे से सीख रहे हों या फिर वे दोनों की अमरीकी लोक-परिपाटी के आगे झुक रहे हों। एक इतिहासकार को मुस्कराए बिना नहीं रह सकता जब वह देखता है कि 'सदर्न बैप्टिस्ट' लोगों के एक समुदाय में ऐसे ट्रकों में भरे हुए लोग चले आ रहे जिन पर 'दि आउटर एपोस्टलेट,' 'ऐविडेंस गिल्ड' 'मोटर पूलिपट' या 'कैथोलिक कैम्पेनर्स फार क्राइस्ट' लिखा है। उनमें से कुछ कहते हैं कि वे मार्क्स को छोड़कर ईसाई हुए हैं। वे गलियों में सभा करते हैं, ट्रैक्ट बाँटते हैं और सच्चे सन्देश के लिए भूखी आत्माओं को 'सूचना' देते हैं। मैंने कैथोलिक वेदी से पादरी का ऐसा स्पष्ट तथा सादा भाषण सुना है जिसे सुनकर किसी भी बूढ़े मेथोडिस्ट को बाइबिल की सादगी के पुराने दिन याद आ जाएँगे। इसी प्रकार एक इतिहासकार तब भी मुस्कराएगा जब एक बैप्टिस्ट गॉथिक चर्च और कैथोलिक 'औपनिवेशिक' संमिलन भवन को साथ-साथ खड़ा हुआ देखेगा।

मौन पूजा सार्वजनिक धार्मिक कृत्य का एक लोकप्रिय रूप बन गई है। 'ईश्वर के समक्ष शान्त' होने की क्वेकर लोगों की विधि का संमान अब उनके समाज के बाहर भी किया जाता है। विशेष तौर पर कालेज के समुदाय में, मिश्रित प्रार्थनाओं में, और ऐसे अवसरों पर जहाँ कि पारम्परिक विधियाँ अव्यावहारिक या अनुचित प्रतीत होती हैं, एक संक्षिप्त 'मौन प्रार्थना' आमतौर पर की जाती है। प्रार्थना का यह रूप आवश्यक नहीं कि

यह बताए कि भिन्नता को एक वाणी नहीं दी जा सकती, अपितु यह इस बात की भी सकारात्मक स्वीकृति हो सकता है कि किसी अवसर के संवेगी तथा बौद्धिक घटक वाणी, चित्र या संगीत द्वारा सदा प्रकट नहीं किए जा सकते। रहस्यवादी तथा अरहस्यवादी संचार में सार्थकता तथा असंचारणीयता आमतौर पर साथ-साथ रहती हैं। दूसरी ओर मौन का आश्रय लेने में खतरे भी हैं। जैसा कि डॉ० फैलिक्स एडलर ने संकेत किया है : "हो सकता है कि महान् विचारक इसलिए चुप रहे हों कि उनके विचार इतने विशाल थे कि उन्हें प्रकट नहीं किया जा सकता था; लेकिन यह तो निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि यदि विचार के सम्बन्ध में मौन को ही नियम बना लिया जाय तो वह विचार भी जल्दी ही नष्ट हो जायगा।"

धार्मिक स्थापत्य तथा संगीत में परिवर्तन

पूजा की कला के विकास की झलक उन परिवर्तनों में दिखाई देती है जो कि स्थापत्य में आ गये हैं। कुछ परिवर्तनों का सम्बन्ध धर्म से बिल्कुल नहीं है। वे भवन निर्माण की कला में आए हुए परिवर्तनों के परिणाम हैं। धार्मिक भवनों के निर्माण में आधुनिक सामग्री और स्थापत्य के रूपों का प्रयोग होने लगा है, लेकिन आमतौर पर इस पवित्र कला में 'पवित्र रूप' ही सबसे ज्यादा समय तक चल पाएँगे। आधुनिकवादी डिज़ाइन का विरोध भी उसी कारण से किया जाता है जिससे कि आधुनिक विचार का विरोध किया जाता है। वह कारण है धर्म-विरोधी हो जाने का डर। तो भी पिछले दशकों में कुछ विशिष्ट आधुनिकवादी चर्च बनाये गये हैं।

शैली में कुछ विशिष्ट परिवर्तन ऐसे भी हैं जो धार्मिक पुनर्निर्माण के ही परिणाम हैं। इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में बड़े संस्थागत चर्चों की शैक्षिक मनोरंजक तथा समाज सेवा की विभिन्न सामुदायिक गति-विधियों के लिए स्थान की आवश्यकता थी। परिणामस्वरूप एक इस प्रकार की इमारत बनने लगी जिसके बारे में एक प्रमुख पादरी ने कहा है कि "ये हमारे आधुनिक बड़े गराज़ हैं जिन्हें चर्च का नाम दे दिया गया है, और इनसे

यह भी पता चलता है कि किस प्रकार चर्च हमारे समाज की संस्कृति और धर्म-निरपेक्षवाद की ओर झुक रहा है। इन इमारतों के केन्द्र में थिएटर की तरह का एक औडिटोरअम होता था; अन्तर केवल इतना होता था सीटों की मुड़ी हुई कतार की जगह मुड़ी हुई बेंचें इस्तेमाल की जाती थीं। सामने के प्लेटफार्म पर फर्नीचर के तौर पर एक वेदी और तीन कुर्सियाँ, (पर्दे से ढकी हुई) संगीत-मंडली की सीटें और एक पाइपऑर्गन, और वेदी के नीचे या पीछे एक छोटी पीठिका होती थी। औडिटोरअम के चारों ओर खिसकने वाले दरवाज़े होते थे जिनसे रविवासरीय विद्यालय के कक्षों को अलग किया जा सकता था या अधिक भीड़ की दशा में आदमियों को वहाँ बैठाया जा सकता था। तहखाने, बुर्ज या इमारत के पीछे या तीनों जगह—क्लब के कमरे, रसोई, भोजनकक्ष, व्यायामशाला मंच, तथा दफ्तर आदि होते थे। भवन-निर्माण की यह शैली अब पुरानी पड़ गई है। एक अच्छी प्रकार से व्यवस्थित समुदाय में ये तीन अलग-अलग इमारतें होती हैं। पूजा के लिए एक ईश्वर का गृह, गति-विधियों के लिए एक सामुदायिक गृह और पादरी का निवास-स्थान। पूजा के गृह अब अधिक दृश्य रूप से तथा सचाई के साथ ईश्वर के स्मारक तथा संमिलन के स्थान बन गये हैं। गॉथिक शैली जिसका प्रारम्भिक, एकेडैमिक स्थापत्य में पुनरुद्धार हुआ था, विशेषकर प्रोटेस्टेंट लोगों के बीच, अब सबसे अधिक लोकप्रिय मानदण्ड बन गई है। सुधारवादी यहूदी धर्म पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। पिछले दिनों में कम से कम गॉथिक शैली की कम से कम बीस प्रसिद्ध इमारतें बनायी गई हैं। ईसाई इतिहास की इस पवित्र शैली की ओर लौटना वास्तव में सार्वजनिक पूजा के ही आन्दोलन का एक अंग था। वेदी, खुला मंच, रंगीन काँच, स्थापत्य शैली, तथा इसी प्रकार की चीज़ें उन उदारवादियों के द्वारा भी स्वीकार कर ली गई थीं जो सार्वजनिक पूजा को कम से कम काम लाते थे। इसके साथ ही सार्वजनिक पूजा के संगीत का भी पुनरुत्थान हुआ। प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक चर्चों में संगीत का मानदण्ड उस मानदण्ड के पास आ गया जो कि १९०३ में पोप पायस दसवें ने बताया था; संगीत

को 'सच्ची कला' और 'पवित्र' और 'व्यापक' होना चाहिए। संगीत के रूपों को 'पवित्र संगीत की सामान्य विशेषताओं' के इस प्रकार अधीन कर देना चाहिए कि "उनके सुनने पर किसी भी राष्ट्र के व्यक्ति पर अच्छे के सिवाय कोई और प्रभाव न पड़े।" एक औसत अमरीकी समूह गान के संगीत को 'अच्छा' तो नहीं कहा जा सकता, पर यदि धार्मिक कृत्य के अनुरूप सत्य का प्रयोग किया जाय तो यह अच्छा असर अवश्य डाल सकता है। नये भक्ति गीत संग्रहों में से भावनात्मक, 'संदेश गीतों' को निकाल दिया गया। इन गीतों के चुनाव का मानदण्ड इतना कठोर और भावना-विरोधी हो गया है कि भावुक लोगों में से केवल कुछ ने ही उनका समर्थन तथा उपयोग किय है। तो भी इनसे वस्तुगत तथा व्यापक की ओर प्रवृत्ति की एक निश्चित आरंभ का पता तो चलता ही है।

इसी बीच वे मत जिन्हें संगठित धर्म अभिशाप सा-प्रतीत होता है, दूसरी चरम सीमा पर चले गये हैं। विशेषकर हमारे बड़े शहरों में तो 'स्टोर फ्रण्ट' चर्चों और 'गॉस्पल मिशनों' की बाढ़ आ गई है जिनमें पुरानी तरह का धार्मिक क्रिया-कलाप बदले की भावना के साथ किया जा रहा है। यहाँ पर भजन तथा भावनात्मक धार्मिक गीत गाए जाते हैं और धर्मोपदेशक 'पूर्ण बाइबिल' के बारे में लच्छेदार तथा संवेगी अपीलें करते हैं।

संक्षेप में, जो पूजा के बारे में इस अर्धशताब्दी में जो कुछ हुआ है उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि इस सदी के प्रारंभ में पूजा में जो मामूली-पन था उसकी जगह कुछ परिवर्तन ज्यादा अच्छे के लिए और कुछ ज्यादा बुरे के लिए हो गए हैं। आया सौन्दर्यानुभूति की ये चरम सीमाएँ किसी वर्ग-भेद पर आधारित हैं या नहीं यह एक विवादास्पद प्रश्न है जिसमें आम समाज-शास्त्र, कला तथा शिक्षा का अंश आ जाता है।

पूजा के सिद्धान्त

सार्वजनिक पूजा से लोगों को जो यह भय था कि इससे औपचारिक-वाद बढ़ेगा, उसे हटाने में सार्वजनिक पूजा सम्बन्धी आन्दोलनों को काफी

हद तक सफलता मिली है। यदि सफलता नहीं मिली तो केवल वहीं जहाँ कि इन आन्दोलनों ने ही 'मनोवृत्तिवादी रूप' धारण कर लिया था। औपचारिकताओं में यदि महत्त्वपूर्ण रूप हों तो आवश्यक नहीं कि वे खाली दिमाग़ और थकी आत्माओं के लिए पर्दे का ही काम करें। एक ओर पूर्व-ग्रह पर जिसने कि अमरीकी संस्कृति में घर कर लिया है, काबू पाया जा रहा है, और वह है यह धारणा कि सार्वजनिक पूजा और प्रार्थना के बजाय प्रतिदिन के काम की प्रार्थना अधिक पर्याप्त है। मेरे एक दार्शनिक मित्र 'कर्म की प्रार्थना के सन्देश' का प्रचार कर रहे हैं। अग्रणी उदारवादी जॉर्ज एल्बर्ट कोने, जिसने 'जीवन की प्रार्थना' को आधुनिक मनोविज्ञान और मूल्य सिद्धान्त के शब्दों में समझाने की कोशिश की थी, यह सिद्धान्त सामने रखा था कि, "सोमवार भी इतना ही पवित्र है जितना कि रविवार, क्योंकि हमारा सारा समय ईश्वर का ही तो है. . . हाथ या दिमाग़ से जीवन के कर्त्तव्यों को करना उतना ही धार्मिक है जितना कि प्रार्थना करना।" इसी प्रकार डीन स्पैरी ने 'श्रम ही पूजा है' इस पुरानी कहावत का इस प्रकार समर्थन किया है :

पूजा की क्रिया को यद्यपि जीवन से अलग नहीं किया जा सकता, तो भी यह एक ऐसी क्रिया है जिसे मानवीय सहायता के विभिन्न रूपों से विशिष्ट माना जा सकता है। ईसाइयत मानती है कि ईश्वर को पिता मान लेने पर सब मनुष्यों का परस्पर भाई मानना अपने आप आवश्यक हो जाता है, और इसके अनुसार व्यवहार किये बिना इस विश्वास का भी कोई मूल्य नहीं रहता। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि ईश्वर के पिता होने का सिद्धान्त अवास्तविक है जिसे हम आसानी से छोड़ सकते हैं। इसके विपरीत ईसाइयत यह मानती है कि पिता के रूप में ईश्वर की सतत पूजा करने पर ही मानवीय भ्रातृत्व को व्यवहार में लाने की ओर झुकाव होता है। अगर मनुष्य ईश्वर की पूजा बन्द कर दे तो मनुष्यों को भाईचारे की प्रेरणा देनेवाला एक सबसे बड़ा तत्त्व समाप्त हो जायगा, क्योंकि पारस्परिक लाभ के लिए अथवा सबसे अधिक लोगों के सर्वाधिक लाभ के लिए किये गए पारस्परिक सम-

स्रोतों में इतनी प्रेरक शक्ति नहीं है जो कि सब मनुष्यों के पिता के रूप में ईश्वर का ध्यान तथा उससे प्रेम करने में है।

यदि चर्च सिवाय इसके और कुछ भी न करे कि वह मानवीय आत्मा के आवासगृह के प्रतीक के रूप में एक ऐसा खुला घर बनवा दे जहाँ जब-तब मनुष्य आकर ईश्वर के सार्वभौम पितृत्व में विश्वास प्रकट कर सकें, तो भी वह सामाजिक व्यवस्था की सबसे बड़ी सेवा कर रहा होगा; और इसके द्वारा की जाने वाली समाज की अन्य कोई सेवा महत्त्व में इसका मुकाबला नहीं कर सकती।

कर्म तथा पूजा में "अदल-बदल के सिद्धान्त" की एक आम दर्शन तथा पूजा के लिए एक तर्क के तौर पर सबसे विशद व्याख्या विलियम अर्नेस्ट हॉकिंग द्वारा की गई है। अपनी पुस्तक 'दि मीनिंग ऑफ़ गॉड इन ह्यूमन एक्सपीरिएंस' में उसने रहस्यवाद का एक नया सिद्धान्त समझाया है और रहस्यवादी अनुभव का सम्बन्ध पूजा से जोड़ा है। हॉकिंग कहता है कि अपने साधारण व्यावहारिक अनुभव में हमें ब्योरों या 'अंशों' पर ध्यान देना होता है; पूजा में हमारा ध्यान उस पूर्ण की ओर जाता है जो अंशों के साथ हमारे व्यवहार में छिपा तो रहता है पर काम करते हुए हम उसे जान नहीं पाते।

किसी अंश या किन्हीं अंशों पर हमारे व्यावहारिक ध्यान देने में कुछ ऐसी बात है जो स्वयं अपने उद्देश्य को पूरा नहीं होने देती। परिणामतः हमें अंशों को पूरी तरह छोड़कर पूर्ण की ओर आना पड़ता है जिसकी कि धर्म माँग करता रहा है। यह पूर्ण सभी अंशों से भिन्न है। और पूर्ण की ओर व्यावहारिक ध्यान देने में भी कोई ऐसी बात है जो अपना उद्देश्य पूरा नहीं होने देती; और तब फिर अंशों की ओर आना पड़ता है। इसलिए हमारा सांसारिक जीवन इन दोनों के बीच झूलता रहता है।

अपनी 'सीमित स्थिति' के कारण हम ऐसी उलझन में हैं जिससे कि हमारी क्रियाशील आत्माएँ आसानी से बाहर नहीं आ सकतीं, यद्यपि हमारे अन्दर के अन्तिम ज्ञाता का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। महत्त्वाकांक्षा

और कर्त्तव्य, चेतन स्वतंत्रता का पूर्ण उपयोग––संक्षेप में सभी कर्मों का विकास ––अपने अन्दर में से ही एक आंतरिक विरोध या एक आध्यात्मिक बंधन द्वारा होता है ज्यों-ज्यों हमारी कृत्रिम आत्मा अपनी ही धारणाओं और पदार्थों में फँसती जाती है त्यों-त्यों उस पूर्ण का भाव मंद पड़ता जाता है जिससे सब पदार्थों को उनके मूल्य प्राप्त होते हैं। मेरे विभिन्न व्यावहारिक कार्य अच्छी प्रकार चल सकें इसके लिए आवश्यक है कि मेरे विभिन्न उद्देश्यों का मूल्य बना रहे; तथा उनका मूल्य और रुचि बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि पूर्ण का मेरा भाव मेरे सारे कार्यों में सक्रिय बना रहे। पूर्णता के भाव के आधार पर जो जीवन का मूल्य फिर से दिलाती है वही पूजा, या पूजा का अंग है। हम कह सकते हैं कि पूजा मूल्य की स्वाभाविक पुनः प्राप्ति का आत्म-चेतन भाग है; इसलिए यह वह भाग है जिससे अन्य सभी भागों के स्थान तथा अर्थों का निर्धारण होता है।

पूजा भी शाश्वत नहीं बनी रह सकती, इसका भी आत्म-पराजय और मृत्यु का अपना प्रकार है। वह पुजारी जो सदा ही पूर्ण के ध्यान में लगा रहता है और सदा ही ईश्वर के सान्निध्य में रहना चाहता है, एक स्व-चालित मनुष्य बन जाता है वैसे ही जैसे कि सदा काम में जुटा रहने वाला श्रमिक मशीन बन जाता है।

इस तर्क से इस बात का औचित्य काफी हद तक सिद्ध हो गया है कि हम काम करने के दिन से विश्राम-दिवस (सैबाथ) की ओर, ईश्वर की इच्छा पूरी करने से ईश्वरीय महिमा की प्रशंसा की ओर, और समस्याओं को सुलझाने वाले विचार से नैतिक दृष्टिकोण उत्पन्न करने वाले ध्यान की ओर जाया करें। इससे मठों या रहस्यवादी तपस्वियों के बीच चलने वाले पूजा के व्यवसायीकरण और अलगाव के विरुद्ध भी एक तर्क मिलता है। हद से ज्यादा पूजा करना, पूजा न करने से बुरा है क्योंकि इससे मनुष्य के कर्म में पवित्रता नहीं आती।

यह आसानी से समझ में आ जायगा कि नैतिकतावादी और शिक्षा-शास्त्री पूजा के इस प्रकार के विश्लेषण का लाभ चरित्र-निर्माण में सहायक

होने के आधार पर धर्म का औचित्य सिद्ध करने में उठायेंगे। अतः अब तक जो नैतिकतावादी धर्म के नाम पर की जाने वाली हर अपील को धर्म-निरपेक्षता के लिए अपमान बताकर उसका विरोध करते थे, उनके विरोध को दूर करने के लिए यह सिद्धान्त बड़ा उपयोगी रहेगा कि पूजा तथा कर्म में अदल-बदल होते रहना बड़ी स्वाभाविक तथा स्वस्थ प्रक्रिया है और मनुष्य को कभी-कभी 'पूर्ण के प्रति प्रतिक्रिया' भी करनी चाहिए। हॉकिंग के बाद चार्ल्स ए० बैनैट, हेनरी एन० वीमैन, ह्यूहार्टशोर्न तथा अन्य दार्शनिकों ने युक्तिवादी नैतिकतावादियों के लिए पूजा के प्रति एक अधिक सहिष्णु मनोवृत्ति धारण करने के लिए रास्ता साफ़ कर दिया। धीरे-धीरे शिक्षा-शास्त्रियों ने इस बात के लिए प्रयत्न किया कि पर्याप्त रूप से 'मूल्यों की भावना' उत्पन्न करने के लिए धार्मिक कृत्यों की सहायता ली जा सके। इसके साथ ही दूसरी ओर धार्मिक शिक्षा को इस सिद्धान्त के अनुसार ढाला गया कि 'मूल्यों की प्राप्ति' में ही पूजा का केन्द्र है।

यद्यपि नैतिक आधारों पर पूजा को उचित ठहराने के द्वारा इसका प्रारम्भ तो अच्छा हो गया, किन्तु अन्त में धर्म-शास्त्र को इससे बहुत आघात पहुँचा क्योंकि इसने धार्मिक अनुभव को नैतिक शिक्षा के अधीन कर दिया। ईश्वर को इसने एक आत्मगत सत्ता और धर्म को एक व्यावहारिक मूल्य दे दिया। कैथोलिकों ने तो इसकी यह कहकर हँसी उड़ायी कि यह प्रोटेस्टेंट-वाद के अन्दर छिपे हुए व्यक्तिवाद और आत्मवाद का एक और प्रमाण है। इसलिए पूजा के एक अधिक वस्तुगत और धार्मिक भाव की आवश्यकता बढ़ने लगी कुछ वस्तुगत आदर्शवादी तथा कुछ वस्तुगत यथार्थवादी इस काम में आगे बढ़े। उन्होंने यह बताया कि पूजा का उद्देश्य तब तक पूरा नहीं हो सकता था जब तक कि पूजक को ईश्वर के एक वस्तुगत या वास्तविक सान्निध्य में न ले आया जाय। हारवार्ड के डीन्सपैरी ने 'वास्तविक सान्निध्य' के इस सिद्धान्त को पकड़ा और अपनी पुस्तक 'रीयल्टी इन वर्शिप' में इसकी प्रभावशाली व्याख्या की। १९२५ में छपने के बाद यह पुस्तक पूजा के बारे में अमरीकी विचार-विनिमय पर पूरी तरह छायी रही। पूजा के

सिद्धान्त के बारे में इस दृष्टिकोण का महत्त्व इसके द्वारा की जाने वाली प्रतीकवाद की व्याख्या में है। इसके अनुसार धार्मिक प्रतीक अपने पदार्थों के केवल सूचकमात्र ही नहीं होते, अपितु वे प्रकाशक भी होते हैं; एक मूर्ति केवल ईश्वर का चित्र नहीं होती अपितु यह एक 'कृपा का मार्ग' या ईश्वर की उपस्थिति को वास्तविक बनाने का साधन होती है। हमें चेतन रूप से ईश्वर के सान्निध्य में ले जाने की इसकी योग्यता में ही पूजा का मूल्य है।

प्रो० प्रैट ने एक बड़े स्पष्ट तथा रोचक बयान में उन कारणों के बारे में बताया है, जिनसे वे सार्वजनिक पूजा को अधिक महत्त्व देने लगे :

लगभग ३५ वर्ष पहले मैंने, "क्या हम अपनी श्रद्धा बनाये रख सकते हैं? इस प्रश्न पर एक पुस्तक लिखने का विचार किया था, तब मैंने एक कालिज शिक्षक के रूप में अपना कार्य सँभाला ही था। मैंने पुस्तक का नाम सोच डाला और एक अध्याय लिखा भी। यह अध्याय धर्म में सचाई के बारे में था। पिछले वर्ष मैंने उस अध्याय को फिर से खोला।... जब मैंने वह अध्याय लिखा था तो मेरे मन में ईसाई-विश्वासों को अधिक खुले रूप से प्रकट करने की आवश्यकता बहुत प्रमुख थी; और मुझे आशा थी कि यदि चर्च और उनके नेता अपने मतों में से उन अंशों को हटा दें जिन पर उनका सजीव विश्वास नहीं है और यदि वे अपने सच्चे विश्वास को खुले तौर पर प्रकट कर दें, तो ईसाई धर्म एक सुदृढ़ स्थिति में आ जायेगा। सचाई की आवश्यकता में तो मेरा विश्वास अब भी है; लेकिन अब मैं यह नहीं मानता कि इससे सब बुराइयों का इलाज हो जायेगा, और अब मुझे धार्मिक प्रतीकों के स्वरूप, उपयोग, और मूल्य के बारे में कुछ गहरी अंतर्दृष्टि प्राप्त होने लगी है।... अमरीका में स्थिति काफी बदल गई है इससे कुछ अंश में निश्चित रूप से लाभ हुआ है, पर कुछ हानि भी। अंतर्दृष्टि और सचाई में वृद्धि हुई है, और साथ-साथ उदासीनता भी बढ़ी है; वास्तव में ईसाइयत या किसी और धर्म को सबसे बड़ा खतरा उदासीनता का ही होता है।

हम में से बहुत से लोग उसी पुराने सूत्र को दोहराते रहते हैं जिसके

अनुसार, जेम्स के शब्दों में, "हमारा सच्चा हृदय कहीं और रहता है। अतः इस तरह धर्म में प्रतीकों के उचित स्थान का प्रश्न इतना ही कठिन है जितना कि यह महत्त्वपूर्ण है। ...धार्मिक प्रतीकों के विचारहीन, पारम्परिक प्रयोग में बेईमानी तथा बुद्धि-नाशकता हो सकती है कोई और चीज ऐसी नहीं है जिसे कि केवल, नम्र पारम्परिक और पुराना बना दिये जाने के द्वारा धर्म से ज्यादा नुकसान पहुँचता हो। और न ही कोई चीज ऐसी ही है जिसे पूरी तरह प्रायोगिक होने की अधिक आवश्यकता हो। धर्म को व्यक्ति का बिल्कुल प्रत्यक्ष अनुभव और एक ऐसी जीवित शक्ति होना चाहिए जो कि समय के साथ-साथ तथा उसके आगे भी चल सके। धर्म चाहता है कि वह उपयोगी वा सुन्दर बने : लेकिन साथ ही साथ यह सच्चा भी रहना चाहता है। वास्तव में धर्म कोई धर्म-शास्त्र नहीं है पर इसका अपना एक धर्म-शास्त्र, अर्थात् अंतिम वस्तुओं के बारे में कोई सच्चा विश्वास अवश्य होना चाहिए। साथ ही यह भी आवश्यक है कि इस धर्म-शास्त्र को केवल कविता ही न मान लिया जाये।

प्रैट ने आगे चलकर बताया है कि पूजा में प्रतीकों का सही उपयोग संचार के साधन के तौर पर नहीं है बल्कि उन संवेगों और कल्पनाओं को उभारने के लिए है जिन्हें कि पूजक स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं कर सकता। इस प्रसंग में उसने येल के प्रोफेसर विलबर एम० अर्बन का एक अनुच्छेद उद्धृत किया है जिसमें बड़े अच्छे ढंग से पूजा का 'वस्तुगतवादी' सिद्धान्त बताया गया है :

यदि अपने सबसे विकसित रूप में भी धार्मिक प्रतीक कविता की प्रकृति नहीं छोड़ता तो इसका कारण यह है कि धार्मिक भाषा को गीतात्मक और नाटकीय होना ही चाहिए, नहीं तो यह कुछ भी नहीं रहती।...धार्मिक प्रतीक अंतश्चेतना को एक ऐसा मोड़ दे देते हैं जिससे अनंत और दिव्य का कुछ सुझाव मिलने लगता है। वास्तव में यह सभी तरह अतिप्राकृतिक है। इसका एक चरम सीमा का लेकिन फिर भी प्रतिनिधि उदाहरण हिंदू देवताओं की प्रतिमाओं में की जाने वाली विकृति है। जब हिंदू धार्मिक

कला में दिव्य क्रिया की अनंतता को असंख्य हाथ-पैरों वाले देवता के रूप में चित्रित किया जाता है तो इसमें प्रकृति की इस विकृति के द्वारा उस अतिशयता को प्रकट करने का प्रयत्न निहित रहता है जो कि हम से बिल्कुल भिन्न वस्तु का रूप है। कला की विकृति के समान यह विकृति भी अवास्तविक है लेकिन कलाकार या पूजक द्वारा यह इस रूप में अनुभव नहीं की जाती, क्योंकि इसे एक शाब्दिक चित्र के बजाय प्रतीक के रूप में भी लिया जाता है, और यहाँ उन मूल्यों को प्रकट करती है जो कि वास्तविक मूल्यों से अधिक वास्तविक हैं।

इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों से पूजा के विषय पर धार्मिक विचारों में जो परिवर्तन आ गया है उसका वर्णन प्रैट ने स्पष्ट तौर से किया है: प्रारम्भिक वर्षों में यह आशा थी कि सच्चाई के पालन द्वारा धार्मिक मनुष्यों को अपने विश्वास में स्पष्टता मिल सके, लेकिन बाद के वर्षों में उन्हें स्पष्ट हो गया कि यद्यपि ईश्वर को स्पष्ट तौर से नहीं जाना जा सकता तो भी पूजा के प्रति उदासीनता पर एक बार काबू पा लेने पर उसकी शक्ति और यश को निश्चित रूप से अनुभव किया जा सकता है। और पूजा के प्रति उदासीनता पर तभी काबू पाया जा सकेगा जब पूजा अपने विषय के योग्य बन जाये।

एक और प्रकार का धार्मिक दर्शन जिसने पूजा में सुधार करने के लिए प्रोत्साहन दिया 'धर्म और कला' का स्कूल था। शताब्दी के प्रारम्भ में धर्म-शास्त्र और 'वैज्ञानिक धर्म' के विरुद्ध आम प्रतिक्रिया के रूप में यह काफी लोकप्रिय हो गया था। लेकिन तब यह एक विवादास्पद मसला बन गया जब धर्म विद्रोह की जाँच के दौरान युवक पादरियों से कहा गया कि वे या तो इस मत को सचाई से अस्वीकार कर दें या फिर यह मान लें कि यह केवल पूजा की एक सौन्दर्यानुभूतिक व्याख्या है।

इस विषय पर जो दार्शनिक विवेचना हुई उसका सार-संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है: आदर्शरूप से पूजा को कम से कम ये चार कार्य करने चाहिए:

१. इसे मानवीय सत्ता के आधारभूत रूपों को आम तौर पर और एक संस्कृति के मूल्यों को विशेष तौर पर औपचारिक तथा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देनी चाहिए।

२. इसे आत्मालोचन और नैतिक शिक्षण के लिए अच्छे स्तर के माध्यम देने चाहिए (जैसे कि अपराध-स्वीकृति, धन्यवाद देना, प्रार्थना, ध्यान, प्रशंसा तथा शास्त्रों और उपदेशों का प्रयोग आदि)।

३. इसे एक विशिष्ट प्रकार का साहचर्य या 'संतों का समागम' तथा मनुष्यों के बीच भ्रातृत्व की भावना उत्पन्न करनी चाहिए।

४. और इसे प्रत्येक पूजक को अलग-अलग रूप से ईश्वर के सान्निध्य में लाना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि पूजा में वस्तुगत तथा आत्मगत दोनों प्रकार के तत्त्व हैं। यदि आजकल इसके आत्मगत पहलुओं पर आक्रमण हो रहा है तो उसका एक बहुत बड़ा कारण यह है कि कला की समालोचना तथा नैतिक आदर्श-वाद की भाषा में 'आत्मगत' का सम्बन्ध 'भावुक' से जोड़ दिया गया है। लेकिन आत्मगत तथा वस्तुगत, आवश्यकता तथा शक्ति और प्रेम तथा यश में जब तक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता तब तक न तो कला ही हो सकती है और न पूजा। पूजा के बारे में डीन स्पैरी ने दो मुख्य सिद्धान्त सामने रखे हैं: एक तो यह कि "पूजा ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा पहले पहल हम ईश्वर की परिभाषा करते हैं", और दूसरा कि पूजा के द्वारा हम "मानवीय अनुभव में उद्देश्यों के राज्य" की स्थापना मनाते हैं। पहली बात से हमारा ध्यान वस्तुगत तत्त्व की ओर जाता है, दूसरी से आत्मगत की ओर। हृदय की प्रशंसा और बाहर की पूजा न तो एक हैं और न एक दूसरे के विरोधी ही, वे आपस में एक दूसरे के पूरक हैं।

सार्वजनिक पूजा की ओर प्रवृत्ति

पूजा के चार मुख्य प्रकार हैं: व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामुदायिक और धर्मस्थानीय। आत्मविश्वास के साथ यह कहना कठिन है कि पिछले ५० वर्षों में व्यक्तिगत भक्ति की दशा क्या हो गयी है। व्यवहार में हर एक

कोई यह मान लेता है कि इसमें बहुत गिरावट हुई है, लेकिन इस गिरावट की मात्रा नापना कठिन है और इसके कारणों का निश्चय करना तो और भी कठिन है। 'लेडीज़ होम जर्नल' के लिए लिंकन बारनेट ने एक सर्वेक्षण किया था जिसकी रिपोर्ट नवम्बर १९४८ के अंक में 'ईश्वर और अमरीकी लोग' के नाम से प्रकाशित हुई थी। इस रिपोर्ट से पता चलता है कि उत्तर देने वाले व्यक्तियों में से लगभग ९५ प्रतिशत कहते थे कि वे ईश्वर में विश्वास करते हैं, ७५ प्रतिशत चर्च के सदस्य थे, ४० प्रतिशत नियमित रूप से चर्च में जाते थे, और लगभग २५ प्रतिशत ने यह स्वीकार किया कि उनका व्यक्तिगत जीवन भक्तिपूर्ण तथा धार्मिक है। आमतौर से वे लोग जो यह मानते हैं कि उनकी व्यक्तिगत भक्ति में कमी आ गयी है यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते कि वे अब व्यक्तिगत रूप से धार्मिक नहीं रहे। अभी हाल में अमरीका में आये एक एंग्लिकन यात्री ने कहा था कि "अमरीकी लोगों में अभी भी इतनी व्यक्तिगत धार्मिकता है कि उसे देखकर धक्का सा लगता है" यूरोपियन लोगों की तुलना में और स्वयं उनकी अपनी गवाही के आधार पर भी यह सत्य प्रतीत होता है कि अमरीकी लोग औरों के बजाय धर्म को अधिक व्यक्तिगत रूप में लेते हैं; लेकिन यह कहना लगभग असंभव है कि अमरीकियों का यह कहने से क्या मतलब है कि वे भक्त नहीं हैं पर धार्मिक हैं। डीन स्पैरी के शब्दों में वे "अपूर्ण रूप से धार्मिक हैं। बहुत कम लोग अपने को नास्तिक मानते हैं, और जो ऐसा मानते हैं उनमें से उग्रवादी तो और भी कम हैं। दार्शनिक धर्म-शास्त्रों के बीच चेतन रूप से और दूसरे बहुत-से के बीच अर्धचेतन रूप से ईश्वर के अन्दर विश्वास पाया जा सकता है, लेकिन उनके अन्दर पूजा की आदत या प्रवृत्ति नहीं है। जब एक प्रसिद्ध दार्शनिक को उसके विश्वविद्यालय के पादरी ने पूजा न करने के कारण चिढ़ाया तो उसने बड़ी गंभीरता से जवाब दिया "मैं एक हाई चर्चमैन हूँ, और जब मैं गिरजाघर के पास से गुजरता हूँ तो मैं ईश्वर का धन्यवाद करता हूँ कि हमारा एक गिरजाघर है और उसमें एक पादरी हमारे लिए प्रार्थना कर रहा है।" कुछ और भी ऐसे आदमी होंगे जो, यदि

उन्हें पूजा के प्रति अपनी उदासीनता के कारण बताने के लिए कहा जाये, तो वे यही कहेंगे कि भिक्षु, पादरी तथा रबी आदि लोगों का एक ऐसा व्यवसायी वर्ग विद्यमान है जिसका काम सब लोगों के लिए पूजा करना है। शेष मनुष्यों का काम तो केवल इतना है कि वे बिना उनमें भाग लिए धार्मिक संस्थाओं की सहायता करें सिवाय उन अवसरों के जब कि पूजा एक कर्त्तव्य के बजाय अभिव्यक्ति का एक रूप बन जाती है। पर अधिकांश लोग तो यह मानकर चलते हैं कि संकट के समय तुरन्त सहायता के लिए धर्म एक अच्छी चीज़ है, साथ ही यह कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसका प्रतिदिन प्रयोग किया जाये। शेक्सपियर ने लिखा था :

ओ मानव, कितनी भलाई की है ईश्वर ने तेरे साथ : तू कोई भी दिन या रात बिना पवित्र बने ऐसी न जाने दे, जब कि तू याद न करे जो कि ईश्वर ने किया है।

[किंग हेनरी षष्ठ, भाग २, अंक २, दृश्य १]

बीसवीं शताब्दी तो यह सूत्र एक प्राथमिक धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता था, लेकिन अब इस सलाह को शायद एलिज़ाबेथ युग का माना जाएगा। सामान्य मनुष्यों में से अधिकांश के लिए पूजा कोई दैनिक खुराक नहीं है, और चाहे वे इसको मानें या न मानें उनके जीवन में धर्म का ऐसा केन्द्रीय स्थान नहीं है जैसा कि पादरियों के अनुसार होना चाहिए।

कई लोग तो अपने दैनिक जीवन के काम में इतना व्यस्त रहते हैं, या वे मानते हैं कि अत्यधिक व्यस्तता के कारण उन्हें कभी-कभी के विश्राम, मनोरंजन और ध्यान के लिए भी समय नहीं मिलता, और इसलिए पूजा के बजाय वे 'चर्च' का काम करना अधिक पसन्द करते हैं। बहुतों के लिए काम और विश्राम दिवस का क्रम एक झंझट ही है, विशेष तौर से जब कि उन्हें शारीरिक आराम की आवश्यकता होती है, और बहुत से लोग तो यह सोच भी नहीं सकते कि आजकल के काम करने के दिन के बीच पूजा के लिए समय निकाला जा सकता है। सुबह दोपहर और रात में से कोई

भी समय तो खाली नहीं होता। मैं ऐसे बहुत से शक्तिशाली व्यापारियों को जानता हूँ जो मानते हैं कि उन्हें धार्मिक मामलों में बहुत रुचि है और वे आशा करते हैं कि वे अपने जीवन के अंतिम वर्ष धार्मिक रूप से बिताएँगे। सचाई यह है कि भक्त लोगों की पूजा भी किसी व्यक्तिगत आवश्यकता की अनुभूति पर आधारित होने के बजाय चर्च के प्रति कर्त्तव्य की भावना के कारण अधिक होती है; परिणामतः जब उन्हें पता चलता है कि पूजा एक विशेषाधिकार है न कि एक कर्त्तव्य, तो वे अपना विशेषाधिकार छोड़ देते हैं।

यह बात अवश्य सत्य है कि धर्म के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह ऐसा रूप धारण करे जिसे पूजा माना जाय। आधुनिक मनुष्य के लिये उपयुक्त व्यक्तिगत धार्मिक जीवन की विधियों का विकास करने में पिछले दिनों काफी रुचि दिखायी गई है अगले अध्याय में हमें व्यक्तिगत पूजा से भिन्न धार्मिक अनुभव के बारे में कहने के लिए अधिक अवसर मिलेगा। यहाँ पर यही कहना काफी है कि धार्मिक अभिव्यक्ति के नये रूपों की खोज का एक बड़ा कारण यह भी है कि बड़ी संगठित धार्मिक संस्थाओं द्वारा जिन सदस्यों में जिस व्यक्तिगत भक्ति को मानकर चला जाता है उसमें भी गिरावट आ गई है।

कुछ ऐसे ही कारणों से यहूदी धर्म को छोड़कर शेष की पारिवारिक भक्ति में भी गिरावट आ गई है। यहूदियों के लिये तो अभी भी धार्मिक अनुष्ठानों का मुख्य केन्द्र परिवार ही है। घर के अन्दर के दैनिक जीवन को पवित्र बनाने के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्य किए जाते हैं। यहूदी धर्म में पारिवारिक पूजा की प्रबलता का कारण यह नहीं है कि यहूदी पारिवारिक जीवन की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, क्योंकि अमरीकी यहूदी घरों में यह विशेषताएँ धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही हैं: इस प्रबलता का वास्तविक कारण इजराइल के घर का ऐतिहासिक स्वरूप है। साधारण जनता के धर्म में पारिवारिक धर्म-कृत्यों का एक बहुत बड़ा भाग होता है, जबकि ईसाइयत जैसा धर्म (और ईसा के जीवन जैसा

जीवन) आमतौर पर परिवार से स्वतंत्र रहता है। यह अधिक व्यक्तिगत भी है और अधिक सार्वजनिक भी। लेकिन यह इजराइल के धर्म के मुकाबले में जिससे कि यह अलग हुआ था कम पितृसत्तात्मक तथा कम राष्ट्रीय है। यह संगठित हो सकता है लेकिन सामूहिक यह कम है क्योंकि यहूदीधर्म की पृष्ठभूमि देहाती तथा कृषि संबंधी है इसलिए आर्थिक कारणों से धार्मिक अनुष्ठानों के लिए परिवार का केंद्र बन जाना स्वाभाविक है, लेकिन आधुनिक शहरी जीवन में भी और यहूदियों के बीच राज-नैतिक राष्ट्रीयता का पुनर्जागरण हो जाने के बाद भी, समुदाय या राष्ट्रीय वतन के बजाय परिवार ही धार्मिक अनुष्ठानों का केंद्र है। सामुदायिक पूजा यहूदी धर्म का एक आवश्यक अंग है अवश्य, लेकिन यहूदी धर्म के बने रहने के लिए यह उतनी जरूरी नहीं है जितना कि ईसाइयत के बने रहने के लिए पैरिश चर्च और इसके पादरियों का होना जरूरी है। ईसाई पूजा में पारिवारिक भक्ति के बिना काम चल सकता है, लेकिन पारिवारिक धार्मिक कृत्यों के बिना यहूदी धर्म का प्रभाव नष्ट हो जाएगा।

अंत में धार्मिक पूजा का एक और प्रकार भी है जो पूरी तरह धार्मिक समाजों की ही विशेषता है। इन समाजों में एकता का एकमात्र बंधन एक धार्मिक विश्वास होता है। अन्य धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष समाजों से इनकी प्रतिस्पर्धा रहती है। ऑगस्टाइन के 'सिटी ऑफ गॉड' जैसे ये समाज मानते हैं कि ईश्वर के अंदर उनकी अदृश्य एकता है। अपने में तथा सांसारिक समाजों में वे अंतर मानते हैं जो कि स्वर्ग तथा पृथ्वी में है। वे ईश्वर की अपनी प्रजा हैं और उनका उद्देश्य समाज के अन्य सभी वर्गों का उद्धार करना है। इस अर्थ में धार्मिक पूजा एक दिव्य प्रकाश की अभिव्यक्ति है न कि किसी संस्कृति की। चर्च "ईश्वर के समक्ष शांति का समुदाय" है चाहे इसका संबंध अन्य किन्हीं लोगों से हो या न हो। जब चर्च जानबूझ कर अपनी पूजा-प्रार्थना को अपने सांस्कृतिक परिवेश से अलग कर लेते हैं और वे यह मानने लगते हैं कि उन्हें इस संसार के बाहर

रहकर काम करना है, तो उनकी पूजा एक ऐसा अतिप्राकृतिक रूप ले लेती है जिस पर मनुष्यों की आलोचना का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस उच्चता ग्रंथि या जैसा कि इसे कहा गया है, "चुने हुए आदमियों की ग्रंथि" से और समाजों को बुरा लगता ही है, लेकिन चर्चों के अंदर भी वह विद्रोह पैदा हो जाता है जिसे सामाजिक संदेश का नाम दिया गया है। इसलिए चर्च के बहुत से व्यक्ति बाइबिल के सामाजिकीकरण या आधुनिकीकरण को पूजा-विरोधी आंदोलन मानने लगे थे। धार्मिक पूजा वैसे भी समाज में विभेद उत्पन्न करती है। एकेश्वरवादी पूजा में भी तनाव बढ़ जाता है जब प्रत्येक धर्म, या प्रत्येक चर्च सत्य की अनंत आत्मा को किसी विशेष मत की चट्टान से बाँध देने के लिए दूसरे मतों को दबाने के लिए शक्ति की प्रार्थना करता है। मिशनरी बन जाने पर प्रार्थना अपनी मानवता खोने लगती है। एक संघर्षवादी धार्मिक विश्वास का भी संसार में स्थान है, पर वेदी पर शक्ति का प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता।

सम्प्रदायवाद की बुराइयों पर काबू पाने के लिए चर्च से संबद्ध व्यक्तियों ने. . .का विकास करने की कोशिश की है, पर पूजा के क्षेत्र में एकता ऐसा आदर्श प्रतीत होती है जिसे पाना असम्भव-सा है, पर इस समय यह बात स्पष्ट है कि ईसाइयों में इस एकता की आवश्यकता पूजा के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि संमिलित कार्य तथा संघर्ष के लिए। ईसाई एकता के आंदोलन के नेताओं को यह आशा रही है कि कभी सारे ईसाई ईश्वर के समक्ष प्रार्थना में एक हो सकेंगे और इस प्रकार अदृश्य एकता को दृश्य रूप दे सकेंगे। लेकिन यह आशा भावुक है और शायद उससे भी ज्यादा राजनैतिक। फिर भी अंतर्मतीय सहयोग की तरह किन्हीं ठोस कामों के लिए ईसाई एकता भी कभी-कभी व्यावहारिक हो सकती है। मानवीय भ्रातृत्व के आदर्श की तरह धार्मिक रूप से ईश्वर के सम्मुख घोषणा किये जाने के बजाय यह तब अधिक कारगर होती है जब यह मनुष्यों के बीच काम कर रही हो।

अमरीका में इस समय अनेक मतों के अनुयायियों के लिए यह अवसर

है कि वे विविधतापूर्ण धार्मिक जीवन में अपना अपना योगदान दें। जो कुछ प्रायोगिक साक्षी इस समय मिल रही है और पूजा में सुधार करने की प्रवृत्ति की जैसी आलोचना की जा रही है उससे भी इसकी पुष्टि होती है। लेकिन यदि सारी धार्मिक शक्तियों को एक ही साँचे में ढालने की कोशिश की गई तो इससे लाभ के बजाय हानि ही अधिक होगी। स्वर्ग के संगीत की विविधता की तरह पृथ्वी पर भी विविधता बनाये रखना लाभकर ही होगा, क्योंकि 'एक संसार' में विविध प्रकार के भक्ति-गीतों को सुनकर ईश्वर तथा मनुष्य दोनों को ही प्रसन्नता हो सकती है।

क्या राजाओं के भी राजा को यह बताने की आवश्यकता पड़ेगी कि उसे अपनी सृष्टि और उसके चलाने में क्यों आनंद आता है? ईश्वर चाहता है कि उसके प्राणी भी कुछ अपना सृजन करें, इसीलिए तो 'जेनेसिस' में कहा गया है; "उसने मनुष्य को अपने ही अनुरूप बनाया।" यही मनुष्य की श्रेष्ठता का सबसे बड़ा प्रमाण है; और मानवीय क्रियाओं में से भी वह उतनी ही अच्छी है जो संसार के सतत पुनः सृजन में जितना अधिक सहयोग करती है।

विलियम जेम्स के बाद के धार्मिक अनुभव

धार्मिक अनुभव का जेम्स द्वारा विश्लेषण

१९०० में जब विलियम जेम्स स्काटलैण्ड में दिए जाने वाले 'गिर्ड व्याख्यानों' की दो मालाएँ तैयार कर रहा था तो उसका इरादा पहली माला में 'मनुष्य की धार्मिक भूखें' और दूसरी में 'दर्शन के माध्यम से उनकी तृप्ति' पर विचार करने का था। दूसरा भाग तो कभी लिखा ही नहीं गया, और जब १९१२ में उसने 'दि प्लूरलिस्टिक यूनिवर्स' नामक पुस्तक लिखी जिसका सुझाव उसे पहली माला से मिला था, तो भी उसको यह नहीं बताया गया था कि दर्शन से धार्मिक भूख कैसे शांत हो सकती है, अपितु बताया गया था कि धार्मिक अनुभव के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अध्यात्म-शास्त्र का पुर्ननिर्मण किस प्रकार किया जाना चाहिए। जेम्स के मन में हुआ यह परिवर्तन न केवल उसके बौद्धिक कैरियर को समझने के लिए आवश्यक है अपितु इससे यह भी पता चलता है कि उस समय धार्मिक विचारों और धर्म के बारे में विचारों में क्या-क्या आम परिवर्तन हो रहे थे। गिफर्ड व्याख्यानों की पृष्ठभूमि में और जेम्स की अपनी पृष्ठभूमि में एक परम्परा थी जिसे अस्पष्ट रूप से 'स्वाभाविक धर्म' के रूप में जाना जाता था। इस परम्परा का यह विश्वास था कि मनुष्य के अंदर स्वाभाविक धार्मिक प्रवृत्तियाँ होती हैं, और उन प्रवृत्तियों को स्वाभाविक बताने वाले दर्शन ही उन्हें पारम्परिक विश्वासों और दिव्य ज्ञान प्राप्त धर्मों के कृत्यों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह संतुष्ट कर सकते हैं। वे 'निरपेक्ष' दार्शनिक आदर्शवाद जिनसे जेम्स स्काटलैंड और अमरीका में घिरा रहा, केवल धर्म के दर्शन ही नहीं थे; वे धार्मिक दर्शन थे, और संस्थागत धर्म और धर्म-शास्त्रों के स्थापनापन्न थे। जेम्स के

अनेक मित्र और स्वयं उसके पिता भी इस अर्थ में धार्मिक दार्शनिक थे। उनको दर्शन में धार्मिक संतोष मिलता था। व्यक्ति के रूप में उनके और ईश्वर के बीच के संबंध का माध्यम कृपा का चर्च संबंधी मार्ग न होकर कुछ आदर्शवादी सिद्धांत थे। 'इस ज्ञानवाद' (नस्टिसिज्म) के विरुद्ध जेम्स ने विद्रोह किया, क्योंकि यद्यपि वह चर्चवाद का विरोधी था, तो भी उसे विश्वास था कि 'धार्मिक भूख' कभी भी दर्शन से संतुष्ट नहीं हो सकती। इस विषय पर उसके कुछ विविध मतों को उद्धृत करना अच्छा रहेगा क्योंकि उनसे न केवल जेम्स के युक्तिवाद से पलटने के बारे में अपितु आदर्शवाद तथा भौतिकवादी निरपेक्षवाद के विरुद्ध अमरीका में उठ रहे आम विद्रोह के बारे में भी पता चलता है।

अतिप्रकृतिवाद का एक तो स्थूल रूप है और एक परिष्कृत। आधुनिक दार्शनिकों में से अधिकांश का संबंध इसके परिष्कृत रूप से है। परिष्कृत अतिप्रकृतिवाद सार्वभौम अतिप्रकृतिवाद है। इसके अपरिष्कृत विभेद को खंड रूप अतिप्रकृतिवाद कहना अधिक ठीक रहेगा। यद्यपि मैं लोकप्रिय ईसाई सिद्धांत या स्कॉलैस्टिक आस्तिकता को स्वीकार नहीं कर सकता, तो भी मुझे लगता है कि अपने इस विश्वास के कारण आदर्श के साथ संपर्क होने पर नयी शक्तियाँ संसार में आती हैं, मुझे खंडरूपी अतिप्रकृतिवादियों में रखा जा सकता है। साथ ही मुझे लगता है कि सार्वभौम अतिप्रकृतिवाद बड़ी आसानी से प्रकृतिवाद के आगे घुटने टेक देता है।

इन उद्धरणों से पता चलता है कि धार्मिक अनुभवों के वर्णन पर जेम्स ने कितना वैयक्तिक या व्यक्तिवादी बल दिया था। वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा था कि चेतना के दो रूप ऐसे हैं जो इसके सार्वभौमिकवादी, युक्तिवादी और दार्शनिक रूपों से, जिनके आधार पर कि धर्म-शास्त्री आमतौर पर अपने विश्वास का मंडन करते हैं, अधिक बुनियादी है : ये रूप हैं धार्मिक अनुभूति और धार्मिक प्रकाश के—धार्मिक अनुभव के संवेगी तथा रहस्यवादी रूप।

रहस्यवादी प्रकाश के उसके वर्णन में कुछ अमरीकी विशेषताओं पर बल दिया गया है । उसने परिपक्व रहस्यवाद को अधिक स्थान दिया है और रहस्यवादी अनुभूति के बारे में कहा है कि "ध्यान खींचनेवाले अधिकांश दृष्टांत जिन्हें मैंने इकट्ठा किया है, घर से बाहर घटित हुए हैं ।" उसने बताया है कि रहस्यवाद के अधिक प्रकृतिवादी और धर्म-निरपेक्ष रूपों से प्रारंभ करने में उसका उद्देश्य इसके धार्मिक रूपों से तारतम्य दिखाना रहा है, लेकिन धर्म-निरपेक्ष रहस्यवादियों और 'ब्रह्मांडीय चेतना' पर उसने इतनी सहानुभूति ऊँडेल दी है कि जब तक वह पारम्परिक रहस्यवादियों तक पहुँचता है उसके वर्णन फीके पड़ने लगते हैं। अमरीकी रहस्यवादियों में उसने बैंजामिन पाल, ब्लड, राल्फ वाल्डो ट्राइन तथा वाल्ट व्हिटमैन को अधिक महत्त्व दिया है । बैंजामिन पाल, ब्लड तथा उसके साथी ज़ैनस क्लार्क के लेखों में जेम्स को उस बात पर बल दिया हुआ मिला है जो कि उसके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है, वह है कि रहस्यवादी प्रकाश कोई संवेगी अनुभव नहीं है । अनुभूति तो एक मनोवृत्ति बताती है जिसमें ज्ञान को प्रधानता नहीं होती, पर रहस्यवादी अनुभव 'निजी तौर पर प्रामाणिक' होता है और इसमें एक प्रकार से सत्य की अबौद्धिक पकड़ निहित होती है ।

रहस्यवाद में जेम्स की अपनी रुचि तब पैदा हुई जब यह बताने के लिए कि किस प्रकार रहस्यवाद बिना तर्क या संवेग की भ्रांतियों का सहारा लिए "वैयक्तिक सत्ता के अर्थ को प्रकाशित कर सकता है, वह 'ब्रह्मांडीय चेतना' और 'प्रवृति-रहस्यवाद' के विभिन्न रूपों के साथ प्रयोग कर रहा था। उसका विश्वास था कि क्योंकि रहस्यवादी अनुभव का (एक चेतना के रूप में) एक वस्तुगत वास्तकिता या तथ्य से सीधा संबंध है, इसलिए यह वास्तव में एक संवेदन या निरीक्षण है, न तो यह तार्किक है, और न संवेगी ।

धार्मिक अनुभव के संवेगी प्रकारों को जेम्स ने दो विभागों में बाँटा है : 'स्वस्थ चित्त' और 'परेशान आत्मा' । स्वस्थ चित्त वाले प्रकार के

लोगों में उसने एमर्सन, थियोडोर पार्कर, एडवार्ड एवरेट हेल्ड, वाल्ट ह्विटमैन, और 'न्यू थॉट एंड क्रिश्चियन साइंस' के अनुयायियों का वर्णन किया है। आगे उसने कहा है :

पिछले पचास वर्षों में ईसाइयत में तथाकथित उदारवाद के आने को उस विकृति के ऊपर जिसका पुराने नरकाग्निवाले धर्म-शास्त्र से सीधा संबंध था, स्वस्थचित्तता की विजय माना जा सकता है। पिछले पच्चीस वर्षों में विकासवाद का सिद्धांत यूरोप और अमरीका में इतनी तेजी के साथ फैला है कि हमें प्रकृति के नये प्रकार के एक धर्म का आधार तैयार हुआ दिखायी पड़ता है। इसने हमारी पीढ़ी के एक बड़े भाग से ईसाइयत को पूरी तरह हटा दिया है। सार्वभौम विकासवाद के विचार से आम-सुधारवाद और प्रगति का सिद्धांत निकलता है जो स्वस्थचित्त लोगों की धार्मिक आवश्यकताएँ इतनी अच्छी तरह पूरी करता है कि ऐसा लगता है मानो यह उनके ही उपयोग के लिए बनाया गया हो।

इस उद्धरण से जेम्स के मन में दो शक्तियाँ काम करती हुई स्पष्ट दिखती हैं। एक ओर तो वह यह मानता है कि वह स्वयं इस 'उदारवाद की प्रगति' की पैदावार है जिसने आशावाद का एक नया तथा अपेक्षाकृत काफिर धर्म पैदा कर दिया था, दूसरी ओर वह अपने इस उत्तराधिकार का आलोचनात्मक परीक्षण करने के लिए भी प्रस्तुत है। वह शैलर मैथ्यू के साथ कह सकता था कि सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की उसे कोई जल्दी नहीं थी, उसे तो केवल यह पता था कि "न्यू इंगलैण्ड पर ईश्वर कृपालु रहा है।" साथ ही साथ शैलर मैथ्यू की तरह उसने ऐसी स्वस्थ चित्तता के खोखलेपन को समझ लिया था और इसे वह बचकाने-पन का एक रूप मानता था।

इस प्रकार के 'लोकप्रिय' धर्म की अपेक्षा जेम्स ने 'दु:खित' तथा 'परे-शान आत्मा' वाले 'दो बार-उत्पन्न' (द्विज) व्यक्ति को अधिक संमान दिया है। जिन लोगों को लंबी मानसिक गिरावट के विरुद्ध जेम्स के अपने संघर्ष का पता है उन्हें उसके इस प्रकार के धार्मिक अनुभव के

परिचय के बारे में जानकर कोई आश्चर्य नहीं होगा। पर जेम्स ने अपने अनुभव को पीछे छोड़कर धर्म-परिवर्तन के बारे में मनोवैज्ञानिकों और धार्मिक नेताओं की आधुनिक रुचि के बारे में विचार किया है। उसने भ्रांति निवारण की भावना पर भी सोचा है :

इस बारे में कोई संदेह नहीं कि एक दार्शनिक सिद्धांत के रूप में स्वस्थचित्तता पर्याप्त नहीं है क्योंकि जीवन की जिन बुराइयों की यह व्याख्या नहीं करना चाहती वे वास्तविकता के सच्चे अंग हैं; और हो सकता है कि जीवन के महत्त्व को समझने की वे ही सबसे अच्छी कुंजी हों और शायद सत्य की सबसे गहरी तह तक आँखें खोलने वाले हों। जीवन की सामान्य प्रक्रिया में ऐसे क्षण भी आते हैं जब बुराई बड़े उग्र रूप में हमारे सामने प्रकट होती है।

क्योंकि यह दुःख, दर्द और मृत्यु पर कोई सकारात्मक तथा सक्रिय ध्यान नहीं देती, इसलिए व्यवस्थित स्वस्थचित्तता उन प्रणालियों के मुकाबले में अपूर्ण है अधूरी है जो कम से कम इन तत्त्वों को अपने क्षेत्र में संमिलित तो करते हैं। इसलिए पूर्णतम धर्म वे होंगे जिनमें निराशावादी तत्त्वों का सबसे अच्छा विकास हुआ हो। बौद्ध तथा ईसाई धर्म इस प्रकार के धर्मों में से हमारे लिए सबसे अधिक सुपरिचित हैं।

यद्यपि जेम्स ने स्वस्थ चित्त तथा परेशान आत्मा वाले स्वभावों में बुनियादी भेद किया है, तो भी उसके विचार से इन दोनों ही प्रकार के व्यक्ति संत बन सकते हैं। लेकिन एक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दोनों के ही रूप में जेम्स 'संतपन के परिणामों' का मूल्यांकन करना चाहता है। उसने संतपन शब्द का व्यवहार इतने विस्तृत अर्थ में किया है कि उसमें धार्मिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का समावेश हो जाता है और फिर वह एक नैतिकवादी की तरह आँकता है कि धार्मिक पुण्य और पाप का सभ्य जीवन में क्या योगदान है? संतपन में क्या स्वाभाविक है और क्या अतिरंजित। इसका विभेद करने के जेम्स के प्रयत्न पर दृष्टिपात करने से हमको उस प्रकार के धार्मिक आदर्शों के बारे में पता

लग जाएगा जो कि इस शताब्दी के प्रारंभ में अमरीकी जीवन में विद्यमान थे।

जेम्स ने इस बारे में जो पहली बात कही है वह है कि एक धार्मिक अनुभव पूरी तरह वैयक्तिक, भविष्यवाणी न करने योग्य तथा अव्यवस्थित होता है, इसलिए सभी रूढ़िवादिताएँ ऊपर से थोपी हुई होती हैं, और सभी (संत) इस संसार में कम या ज्यादा एकाकी होते हैं।

संतों के बारे में विचार करते हुए जेम्स राजनीति को धर्म से बाहर रखना चाहता है और उनके जीवन के नैतिक गुण के आधार पर उनके बारे में राय बनाना चाहता है, न कि उनके मतों के आधार पर। अगर कोई संत अपनी पवित्रता में अति करता है तो यह उसके अपने धार्मिक अनुभव का दोष है ; अगर वह किसी अपराध करने वाले आंदोलन या चर्च का संगठन करता है तो इसमें धर्म का अधिक से अधिक अप्रत्यक्ष दोष ही माना जा सकता है।

जेम्स के निर्णय के अनुसार धार्मिक अनुभव के प्रत्यक्ष परिणाम संक्षेप में इस प्रकार रखे जा सकते हैं।

१. श्रद्धा या ईश्वर की भक्ति, जिसमें अति हो जाने पर कट्टरता पैदा हो जाती है। जेम्स ने कट्टरता की जो बुराइयाँ गिनायीं हैं उसमें गुणों पर आधारित संतपन भी है।

२. श्रद्धा से निकट संबंध रखती हुई पवित्रता है जिसमें भी कि धर्म रोग उत्पन्न हो जाने का खतरा है। इस संबंध में जेम्स ने कहा है :

सोलहवीं शताब्दी के कैथोलिक मत में सामाजिक पवित्रता की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था ; और संसार को उसके भाग्य पर छोड़कर अपनी आत्मा को बचाने का प्रयत्न बुरा नहीं माना जाता था। पर सही या गलत, आजकल आम मानवीय मामलों में सहायक होना अच्छे चरित्र के लिए एक आवश्यक तत्त्व माना जाता है; और सार्वजनिक या व्यक्तिगत रूप में कुछ उपयोगी बन सकना भी दिव्य प्रार्थना का रूप स्वीकार किया जाता है।

३. **परोपकार या करुणा** भी एक और संतों का गुण है जिसमें अति होने से अविवेक का दोष आ जाता है, और तब इससे अयोग्य व्यक्तियों की रक्षा होती है, और परोपजीवियों और भिखारियों की वृद्धि होती है। जेम्स यह निश्चित रूप से नहीं कहता कि अप्रतिरोध ही अतिकरुणा है या नहीं, लेकिन उसने यह एक बात बड़ी ध्यान देने योग्य कही है :

अगर परिस्थितियों को ऊपर उठाना है, तो किसी न किसी को पहला कदम उठाना पड़ेगा और इसका जोखिम स्वीकार करना पड़ेगा। कोई भी ऐसा आदमी जो एक संत की तरह परोपकार और अप्रतिरोध को आज मानने के लिए तैयार नहीं है यह नहीं कह सकता कि ये विधियाँ सफल होंगी या नहीं। जब ये सफल होती हैं तो इनकी सफलता शक्ति या दुनियाबी दूरदर्शिता से कहीं अधिक शक्तिशाली होती है।. . .यह व्यावहारिक प्रमाण कि दुनियाबी बुद्धिमानी से बढ़कर भी कोई चीज हो सकती है मानव जाति को संतों का जादुई वरदान है।

४. **प्रार्थना**; इसे यदि ईश्वर के साथ आंतरिक संबंध के विस्तृत अर्थ में लिया जाय तो यह 'धर्म की आत्मा और सार है,' लेकिन इसमें जब आत्मा की मुक्ति या शरीर के स्वास्थ्य से बढ़कर किसी चीज की माँग की जाती है तो इसमें मतांधमार्गदर्शन का खतरा पैदा हो जाता है। धार्मिक प्रेरणा को जेम्स ने मनुष्य की अवचेतन शक्तियों में से एक माना है।

५. **पाप स्वीकृति** के बारे में जेम्स ने कुछ थोड़ा सा कहकर ही टाल दिया है जिससे यह स्पष्ट नहीं होता कि आया वह यह चाहता है कि अपराध-स्वीकृति को अपनी गिरावट की अवस्था की ओर और जाने दिया जाय या इसे सच्चे तौर पर और अधिक सार्वजनिक बनाया जाय। वह लिखता है :

जिसने पाप स्वीकार कर लिया है उसका सारा नकलीपन दूर हो जाता है और वास्तविकता शुरू हो जाती है; उसने अपनी विकृति को बाहर निकालकर रख दिया है। अगर उसने इससे छुटकारा नहीं पा लिया

तो भी वह कम-से-कम इस पर दंभपूर्ण दिखावे की लीपा-पोती नहीं करता—— वह कम से कम एक सचाई के आधार पर रहता है। यह कहना कठिन है कि ऐंग्लो सैक्सन समुदायों में पाप-स्वीकृति की प्रथा की क्यों पूरी तरह अवनति हो गई। पोपवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया अवश्य ही एक ऐतिहासिक व्याख्या है, क्योंकि उसमें पाप-स्वीकृति के बाद तप, पश्चात्ताप, शुद्धि तथा इसी प्रकार के अन्य काम करने पड़ते थे। फिर भी ऐसा लगता है कि पाप स्वीकार करने वाले व्यक्ति में इसकी इच्छा इतनी तीव्र होनी चाहिए थी कि वह इस साधारण से कारण से इसे छोड़ न बैठता। यह विचार मन में आता है कि कहीं अधिक व्यक्तियों को अपने भेदों का घेरा तोड़ने की अन्दर रुकी भभक को निकालने और राहत पाने की आवश्यकता रही होगी, भले ही उनकी पाप-स्वीकृति को सुनने वाले कान अयोग्य क्यों न रहे हों। कुछ स्पष्ट उपयोगी कारणों से, कैथोलिक चर्च ने पादरी के कान में चुपचाप पाप-स्वीकृति कह देने का स्थान पर सार्वजनिक रूप पाप स्वीकार करने की प्रथा चलायी है। अपनी आम आत्म-निर्भरता और अमिलनसारी स्वभाव के कारण, हम अँगरेजी बोलने वाले प्रोटेस्टेंट लोग केवल ईश्वर से ही अपनी गुप्त बात कहना पर्याप्त समझते हैं।

६. तपस्या पर जेम्स ने सबसे अधिक आलोचनात्मक ध्यान दिया है। उस समय जबकि दार्शनिक तपस्या की निन्दा कर रहे थे, जेम्स ने तपस्या का समर्थन किया बशर्ते कि इसे आधुनिक रूप दिया जा सके। वह उद्धरण अब भी पढ़ने लायक है जिसमें जेम्स ने युद्ध-ग्रस्त संसार के लिए एक आवश्यक अनुशासन के रूप में गरीबी की सिफारिश की है; इससे पता चलता है कि किस प्रकार धार्मिक रूप में जेम्स युद्ध के नैतिक तुल्यांग प्रस्तुत करना चाहता था।

धार्मिक पुण्यों के बारे में की गई ये टिप्पणियाँ बहुतों में से केवल कुछ ही ऐसे उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि जेम्स एक नैतिकवादी के रूप में धर्म का मूल्यांकन उसके वास्तविक या संभाव्य परिणामों के आधार पर कर रहा था। पर जेम्स की नैतिकवादिता का सबसे अच्छा

उदाहरण उसकेद्वारा धार्मिक अनुभवके सौन्दर्यानुभूतिक पक्ष का किया जाने वाला खण्डन है। इस पक्ष को वह धर्म का केवल एक अप्रत्यक्ष अंग मानता है। वह 'सौन्दर्यानुभूतिक संपन्नता' राजनीति आदि के बाहरी प्रभावों से धार्मिक अनुभव को मुक्त रखना चाहता था। वैयक्तिक नैतिकता को वह धार्मिक अनुभव का आन्तरिक अंग मानता था, पर कला के सबसे वैयक्तिक पहलू भी उसे बाहरी प्रतीत होते थे।

जेम्स एक कलाकार था, और उसे कैथोलिक दिखावे तथा धार्मिक कला के विरुद्ध काल्विनिस्ट लोगों की आपत्ति दोनों से ही एक सौन्दर्यानुभूति अरुचि थी। वास्तव में वह एक सौन्दर्यानुभूतिक आधुनिकवादी था जो पुरानेपन से भी उतना ही बचता था जितना कि दंभ से। और यदि कैथोलिकवाद के प्रति उसने व्यंग्यात्मक मनोवृत्ति धारण की तो उसका कारण यह था कि उसे पारम्परिक कला से अरुचि थी न कि यह कि उसका परिशेष प्रोटेस्टेंट और नैतिकवादी था। जेम्स से जहाँ तक भी बन सका, उसने अपने कलात्मक तथा धार्मिक अनुभवों को एक दूसरे से अलग रखने की पूरी कोशिश की।

धार्मिक अनुभव की अन्य व्याख्याएँ

'वेराइटीज़ ऑफ़ रिलीजस एक्सपीरियंसेज़' के प्रकाशित होने के एकदम बाद ही जेम्स के एक सहयोगी जार्ज सान्तायना के द्वारा एक और प्रभावशाली पुस्तक धर्म के बारे में प्रकाशित हुई। यद्यपि इस पर जेम्स का ऋण था, तो भी सान्तायना का 'रीज़न इन रिलीजन' एक प्रकार से उसका प्रतिकारक था। इसमें एक बिल्कुल भिन्न प्रकार की धार्मिक रुचि का वर्णन किया गया था—वह थी सौन्दर्यानुभूतिक तथा संस्थागत। जेम्स के चेतना के तीन प्रकारों (अनुभूति, बुद्धि और प्रकाश) के स्थान पर सान्तायना ने धार्मिक जीवन की वृद्धि की तीन अवस्थाओं में विभेद किया है : पूर्व युक्ति संगत (अंधविश्वास), युक्ति संगत (दार्शनिक विश्वास) और उत्तर युक्ति संगत (कल्पनात्मक सृजन)। धर्म के दोनों विस्तारों में यह प्रगति देखी जा सकती है; पवित्रता में, जो कि अपने युक्ति संगत

रूप में हमारे जीवन के आधारों के प्रति वफादारी है; और आध्यात्मिकता, जो अपने युक्ति संगत रूप में आदर्शों का स्वतंत्र अनुशीलन है। अपने पूर्व युक्ति संगत रूप में पवित्रता, प्रमाण और परम्परा के अनुसरण पर निर्भर रहती है ; अपने उत्तर युक्ति संगत रूप में पवित्रता में सनातन सत्ता का यश विशद किया जाता है । अपने पूर्व युक्ति संगत रूप आध्यात्मिकता मदांधता होती है (जब लक्ष्य भुला दिया जाता है तो इसकी शक्ति दुगुनी हो जाती है); अपने उत्तर युक्ति संगत रूप में, आध्यात्मिकता, कला और धर्म-शास्त्र के द्वारा दिव्य रूपों, तत्त्वों या आदर्शों को पनपाती है। धर्म की बचकाने से युक्ति संगत और उससे कल्पनात्मक रूपकी ओर प्रगति में अभिव्यक्ति के सम्य संस्थागत रूपों और सामूहिक धार्मिक रुचियों की वृद्धि भी अपने आप आ जाती है ।

अपनी निकटतम पृष्ठभूमि के कारण तो इस पुस्तक ने कैथोलिक आधुनिकवाद का औचित्य सिद्ध किया, अमरीकियों की धार्मिक शिक्षा के प्रभाव के रूप में यह एक क्लासिक प्रेरणा का स्रोत रहा है । विशेष तौर से जब सान्तायना की कविताओं और 'कविता तथा धर्म' के प्रसंग में उसकी इस पुस्तक को पढ़ा गया तो प्लेटोवाद, अरस्तूवाद और आधुनिक प्रकृतिवाद का यह काव्यमय संमिश्रण शिक्षित लोगों के बीच नये मानवतावाद की बाइबिल बन गया, जो आधी ईसाई थी और आधी ग्रीक । इसमें युवक स्वतंत्र विचारकों का मेल—संगठित धर्म से करा दिया, और कट्टर दिमागों को अंधविश्वासों से ऊपर उठाया । सबसे बढ़ कर इसने वह किया जो कि जेम्स भी करना चाहता था, अर्थात् इसने बुद्धि को उसके उचित स्थान पर रखा । इस नये भाव के अनुसार मनुष्य की आत्मा को उसके शरीर से अलग किये बिना या बुद्धि का श्रद्धा से विरोध उत्पन्न किये बिना भी बुद्धि संगत रूप से जीवन बिताया जा सकता था । जेम्स के दर्शन की तरह इसमें भी बुद्धि को धार्मिक अनुभव में एक माध्यमिक, व्याख्यात्मक भाग दिया गया है; लेकिन जेम्स से बढ़कर सान्तायना ने यह माना है कि युक्तिसंगत अनुभव उस कल्पनालोक या भावलोक के

द्वार खोल देता है जो सीमाहीन तथा स्वतंत्र है।

इसके बाद जोसिया रोइस ने निरपेक्ष सत्ता के आदर्शवादी भाव का संशोधन इस रूप में किया जिससे जेम्स और आस्तिकों की आलोचना का उत्तर मिल सके। यह कार्य उसने अपनी पुस्तक 'दि प्रोब्लम ऑफ क्रिश्चियेनिटी' में किया जिसमें धार्मिक अनुभव की अधिक मानवतावादी और सामाजिक व्याख्या की गई है। इससे ही दर्शन और धर्म में उस समझौते की शुरुआत हुई जो जेम्स के बाद से अब तक धार्मिक विचार की विशेषता रहा है। ब्रह्माण्ड-शास्त्रीय कल्पना को छोड़कर रोइस ने इस प्रकार के उद्धारशील समाज के बारे में एक व्यापक सिद्धान्त बनाने की कोशिश जैसा कि चर्च के बारे में माना जाता है की उसे होना चाहिए। इस दर्शन के अनुसार सब धार्मिक मनष्यों का एक अनन्त 'प्रिय समाज' है जिसकी आत्मा ईश्वर है। उनकी श्रद्धा सभी सदस्यों द्वारा एक दूसरे की आत्माओं और अनुभवों की व्याख्या करने के प्रयत्नों के ऊपर निर्भर है। इसी प्रयत्न से वे ज्ञान, कष्ट आनन्द और उपलब्धि की एकरूप दशा में ईश्वर के अधीन, भागीदार हो जाते हैं। धार्मिक ज़ीवन का इस प्रकार का भाव चर्च को व्यवहार रूप में दिव्य बना देता है, और 'सामाजिक धर्म-शास्त्र' की दिशा में उससे कहीं आगे चला जाता है जितना कि अधिकांश आस्तिक जाने को तैयार थे। तो भी, इस सदी की ईसाइ-यत की समस्याओं की ओर ध्यान खींचने में सफलता मिली। अमरीकी दर्शन और उदारवादी धर्म-शास्त्र में जो व्यक्तिवाद आता जा रहा था उसका उसने प्रतिकार किया। उस समय अमरीकी आदर्शवादियों में धार्मिक अनुभवों का औचित्य ब्रह्माण्डीय वास्तविकता या सत्ता के बजाय मनुष्य के वैयक्तिक, सामाजिक और भलाई- बुराई के ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर, सनातन सत्ता की बजाय कालगत प्रक्रिया तथा मानवीय मूल्यों के आधार ठहराने के प्रवृत्ति थी। रोइस ने इस प्रवृत्ति को पूरा प्रोत्साहन दिया।

धार्मिक अनुभव के सिद्धान्त पर जेम्स के दृष्टिकोण के लिए आदर्श-

वाद के अन्दर की इन प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण आम अनुभव के सिद्धान्तों के प्रति वस्तुगत दृष्टिकोणों की वृद्धि है। न केवल प्रायोगिक दार्शनिकों द्वारा अपितु मनोवैज्ञानिकों के द्वारा भी अन्तर्दर्शन के लिए चेतना के प्रकारों का 'दशा'ओं के रूप में वर्णन व्यावहारिक रूप में छोड़ दिया गया है। जेम्स की पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकोलौजी' के कम से कम आधे भाग में जिस प्राणिशास्त्रीय या डार्विनियन दृष्टिकोण को अपनाया गया है उसने अन्तर्दशन के प्रति एक आम विद्रोह के लिए रास्ता साफ कर दिया। परिणामतः १९०० में प्रचलित 'धार्मिक चेतना' के अध्ययन का स्थान धार्मिक व्यवहार के अध्ययन ने ले लिया। इससे नृतत्व-शास्त्रीय तथा समाज-शास्त्रीय खोजबीन के लिए रास्ता खुल गया। आज तो धर्म का प्रायोगिक विज्ञान नृतत्व-शास्त्र, समाज-शास्त्र और मंत्र-विश्लेषण का संमिश्रण बन गया है। दार्शनिकों के बीच जोन ड्यूवी और धर्म-शास्त्रियों के बीच रीनहोल्ड नीबर ने धार्मिक पर्यवेक्षकों का ध्यान अनुभव के वैयक्तिक तथा एकाकी रूपों से मानवीय इतिहास और संस्कृति संस्थाओं, रिवाजों और निहित स्वार्थों की ओर खींचा है। मनुष्य के विज्ञान में इस क्रान्तिकारी विचलन का मतलब यह नहीं है कि आत्मज्ञान को या वैयक्तिक मूल्यों के प्रति चिन्ता को छोड़ दिया गया है। इसके विपरीत पिछले पचास वर्षों में आत्म-ज्ञान में जो वृद्धि हुई है उसका मुख्य कारण ही यह है कि अब व्यक्तियों का अध्ययन अलगाव में न करके उनके परिवेश, एक-दूसरे के साथ उनके ऐतिहासिक तथा सामाजिक सम्बन्ध और उनके उत्तराधिकारों के आधार पर किया जाता है। संगठित धर्म को अब अप्रत्यक्ष नहीं माना जाता क्योंकि अपने वैयक्तिक जीवन में कोई मनुष्य प्रत्यक्ष धार्मिक अनुभव से इतना ही दूर हो सकता है जितना कि सार्वजनिक जीवन में।

धर्म के इस नये सामाजिक विज्ञान का प्रभाव सबसे अधिक धर्म-शास्त्र पर पड़ा है। जैसा कि हमने पहले के अध्यायों में देखा है जेम्स की तरह अब धार्मिक स्थिति या मनुष्य और ईश्वर के बीच के सम्बन्ध

की इस रूप में कल्पना नहीं की जाती कि अपने एकान्त में बैठा मनुष्य ब्रह्माण्ड में विद्यमान ईश्वर के समक्ष उपस्थित होता है। यह सम्बन्ध अब सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक घटनात्मक हो गया है जिसमें मनुष्यों को अपने धार्मिक निर्णय करने और अपने धार्मिक विश्वास बनाने के लिए अन्य मनुष्यों तथा ईश्वर दोनों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना होता है। धर्म वैयक्तिक अवश्य है पर व्यक्ति तो सामाजिक प्राणी है और ईश्वर भी मानवीय इतिहास में विद्यमान है और साथ ही किसी विशेष आन्दोलन से ऊपर उठा हुआ है। बहुत ही कम धर्म-शास्त्रियों ने ऐसा कहा है कि ईश्वर ब्रह्माण्डीय सत्य या 'संसार का शासक' नहीं है, पर व्यावहारिक तथा धार्मिक उद्देश्यों के लिए ईश्वर को धर्म से अधिक प्राकृतिक नहीं माना जाता। इस प्रकार धर्म-शास्त्रियों और दार्शनिकों का ऐतिहासिक मनो-वृत्ति वाला बन जाना इस शताब्दी के दौरान में अमरीकी संस्कृति के रूप परिवर्तन का ही अंग है, पर धार्मिक अनुभव के लिए यह परिवर्तन विशेष महत्त्व का सिद्ध हुआ है।

इन नये विकासों का बहुत स्पष्ट और व्यावहारिक प्रभाव व्यक्तित्व तथा अनुभव की जानकारी के ऊपर पड़ा है। अब उस तरह के अनुभवों पर भी स्वास्थ्य और बीमारी के भाव लागू होने लगे हैं जिन्हें पहले केवल पाप और मुक्ति के शब्दों में सोचा जाता था। जब जेम्स ने धर्म के प्रकारों को स्वस्थ और अस्वस्थ के भेदों में बाँटा था तब मानो भविष्यवाणी ही कर रहा था। स्वस्थ मन और अस्वस्थ मन में अन्तर बताने में तो वह और भी सूक्ष्म भविष्यवाणी कर सका था। अब मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मनोविश्लेषणात्मक निदान ने ऐसे साधन उत्पन्न कर दिए हैं जिनसे, कम से कम कुछ सीमा तक, एक व्यथित आत्मावाला व्यक्ति अपनी दशा को आलोचनात्मक रूप में समझ सकता है। पहले तो मनुष्यों के पापों पर ईश्वर के शब्दों द्वारा एक आम तथा पारम्परिक निर्णय दिया जाता था, और इसी के आधार पर किसी पापी को अपराधी घोषित कर दिया जाता था। अब इसके स्थान पर ब्यौरेवार निदान और चिकित्सा का

भी प्रयोग होने लगा है। अपराध और रोग, नैतिकता और धर्म तथा शाश्वत तथा सामयिक कल्याण के बीच में जो पक्की रेखाएँ पहले खींची जाती थीं वे फीकी पड़ गई हैं। कुछ भेद तो अवश्य बना रहेगा, पर ज्यों-ज्यों व्यक्ति या आत्मा के रूप में शरीर और मन में एकता स्थापित होती जा रही है त्यों-त्यों स्वास्थ्य, पवित्रता और मुक्ति भी मिलकर एकात्मक भले ही पेचीदी समस्या बनते जा रहे हैं। 'धर्मरोगी' व्यक्ति को अधिक अच्छी प्रकार समझने के द्वारा सामान्य धार्मिक अनुभव में भी हम जेम्स की तुलना में अधिक जानते हैं कि प्रार्थना में वास्तव में किस चीज़ का आदान-प्रदान होता है, रहस्यवादी चरम अनुभूति में क्या विद्यमान रहता है, और दिव्य ज्ञान कहाँ से आता है। इस तरह का ज्ञान का यद्यपि अपने बचपन में है पर पिछले पचास वर्षों में काफी प्रगति हुई है। एण्टन टी० बॉइसैन ने सबसे पहले अपनी पुस्तक 'दि एक्सप्लोरेशन ऑफ दि इनर वर्ल्ड' (शिकागो, १९३६) में धार्मिक 'स्वस्थ चित्तता' को सबसे पहले चुनौती दी थी और उसके बाद से ऐरिक फ्रौम दूसरे व्यक्तियों ने इस तथ्य को लोकप्रिय बनाया है कि धार्मिक क्रिया-कलापों का मानसिक स्वास्थ्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। १९०० में जिस तरह डॉ० आर० एम० बक ने एक व्यक्ति को 'ब्रह्माण्डीय चेतना' का रोगी बताया था, वैसा आज कोई मनोविश्लेषक नहीं करेगा। लेकिन तब जेम्स ने इस निदान को बड़ी गंभीरता से लिया था। जिन अस्वस्थ आत्माओं और 'विभक्त व्यक्तित्वों' का वर्णन जेम्स ने अपनी पुस्तक में किया था उनमें अब निश्चित रोगों के आधार पर सही ढंग से अधिक अंतर किया जा सकता है। दूसरी ओर इन रोगियों का इलाज करने की कुछ विधियाँ अब भी पादरियों के तरीकों पर आधारित हैं।

मनोविश्लेषणात्मक तथा धार्मिक व्यवसायों में सहयोग निरंतर बढ़ रहा है। मनोविश्लेषक अब धर्म तथा इसकी बचाव-विधि को बच्चों की भ्रांति कहकर नहीं चल सकते, और न पादरी ही मानसिक व्याधियों को अब आत्मिक कष्ट बता सकते हैं। १९२३ से पादरियों को संगठित

तौर पर मानसिक चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा दी जाने लगी है, और विषय में कई पत्रिकाएँ भी प्रकाशित की जाने लगी हैं।

धार्मिक तथा मनोविश्लेषक व्यवसायों के बीच इस बढ़ते हुए सहयोग से पता चलता है कि इन दोनों में से किसी को भी सामने आनेवाली समस्याओं का सामना करने के लिए पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त नहीं है। नैतिक सलाह देने की एक नयी कला का, और शायद एक नए व्यवसाय का विकास हो रहा है जिसके तकनीकी साधनों में मानसिक बीमारियों और स्वास्थ्य के विषय में चिकित्सात्मक समझ, नैतिक माँगों और आदर्शों का एक समालोचनात्मक मूल्यांकन और सामाजिक पुनर्निर्माण में व्यावहारिक रुचियाँ शामिल हैं। जेम्स के समय के 'मानसिक चिकित्सा' आन्दोलन अब बहुत प्रारम्भिक मालूम पड़ते हैं यद्यपि इन्होंने बहुत-सा बुनियादी काम किया था। एक मत के रूप में उनका मूल्य अब कम हो गया है क्योंकि उनका यह आग्रह कि मुक्ति में चिकित्सा भी शामिल है अब आमतौर पर स्वीकार कर लिया गया है।

आम तौर पर, धार्मिक चिकित्सा अब अधिक अन्तर्मतीय और अधिक औषधिक हो गई है, और उसके धर्मशास्त्र का सम्बन्ध मुक्ति के सिद्धान्त से और निकट का हो गया है। क्योंकि धर्मशास्त्र के लिए यह सिद्धान्त बनाए रखना कि आत्मा की मुक्ति 'शाश्वत जीवन' का मामला है चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण हो, यह सचाई तो रहती है कि इस प्रकार की मुक्ति की चिन्ता इसी जीवन में होती है, और इसके द्वारा जो आशाएँ, भय, तथा इच्छाएँ जगायी जाती हैं उनसे यहाँ और अभी निपटना होता है। फिर उन्हें यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि दूसरे संसार की तुलना में इस संसार का कोई महत्त्व नहीं है। चाहिए तो यह कि दूसरे संसार के ज्ञान को इस संसार में मनुष्य के कल्याण के काम में लाया जाय, नहीं तो विचारपूर्ण आदमी की निगाह में धर्म एक अनैतिक मतान्धता बनकर रह जाता है।

इस शताब्दी में जो सामाजिक संकटों, चिन्ताओं और असुरक्षाओं के

अनुभव हुए हैं उसने धार्मिक अनुभव के भाव में बहुत विस्तार तथा रूप परिवर्तन ला दिया है । पहले तो असुरक्षाओं, चिन्ताओं, कष्टों, अत्याचारों और शहादतों के वे अनुभव अब दिन प्रतिदिन होने लगे हैं जिन्हें हमारे पूर्वजों ने मध्ययुगीन कहकर टाल दिया था, ऐसे अनुभवों ने प्रत्येक युग में मनुष्यों को घुटने टेकने पर विवश कर दिया है । इन निर्दयताओं के होने पर मनुष्य अपने ईश्वर के बिल्कुल निकट सम्पर्क में आ जाता है; उसे ईश्वर ढूँढ़ना नहीं पड़ता, वह उसकी ओर खदेड़ दिया जाता है । सान्तायना की भाषा में, इस समय 'आध्यात्मिकता' के बजाय पवित्रता को प्रमुखता मिल जाती है । बुनियादी मानवीय वफादारियों की इतनी कठोर परीक्षा होती है कि प्रसन्नता तथा दूसरे आदर्शों की प्राप्ति के सकारात्मक प्रयत्न पृष्ठभूमि में चले जाते हैं । बुराई को दूर करने की समस्या के साथ साथ, आन्तरिक तथा बाह्य रूप से बुराई का सामना करना एक वास्तविक समस्या बन जाता है । अमरीकी लोग घटनाओं के इस मोड़ के लिए तैयार नहीं थे क्योंकि उन्होंने मान रखा था कि बीसवीं सदी तो 'प्रगति की सदी' है । यह बात कि आविष्कारों में वृद्धि के साथ साथ कष्टों में भी वृद्धि होती जाय केवल हेनरी जार्ज के उपदेशों का अनुसरण करने वाले लोगों को समझ में आ सकती थी । अमरीकी समाजवादी, जिनमें से कुछ ही उग्र मार्क्सवादी और अधिकांश 'सफेद पोश' थे, तकनीकी प्रगति और सार्वभौम सहयोग के द्वारा प्रगति में अविचल विश्वास रखे हुए थे; उन्हें तो 'राष्ट्रीय समाजवाद' स्वर्ग का ही राज्य मालूम पड़ता था । मूर्खों के इस स्वर्ग ने पूंजी या बिना पूंजी वाले कल्पनाशील अमरीकियों को १९२० के दशक में सामाजिक संघर्ष और विनाश के प्रति अन्धा बना दिया था । परिणामतः १९३० का भ्रान्ति निवारण और भी दर्दनाक हो गया । यह स्थिति इलहामी . . .ज्ञान. . .के बहुत अनुकूल थी । सब तरह के मसीहा पैदा भी हुए जिनका सदा की तरह खुले कानों और पत्थरों से स्वागत किया गया ।

उस समय तो मानो सारा समाज ही शाप-ग्रस्त हो गया था । विलियम

जेम्स तथा उसके समकालीन कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि असुरक्षा और 'विभक्त चेतनाओं' का ऐसा समाजीकरण हो जायगा। जेम्स को अपनी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में चेतना के विभेदों के जिन विचित्र नमूनों से पाला पड़ा था, वे अब हमारे लिए सुपरिचित चीज़ हो गये हैं, इतने सुपरिचित कि हमारे धार्मिक समाजशास्त्री उन्हें 'मानवीय स्थितियों' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने लगे हैं, जब कि जेम्स उन्हें केवल धर्म की उग्र अभिव्यक्तियों के नमूने मानता था। जेम्स के समय जिन धार्मिक घटनाओं को चेतना का विशिष्ट रूप माना जाता था, वे ही अब सत्तावादी विश्लेषण की सामग्री बन गई हैं। रहस्य और पाप-पूर्ण स्थितियों को सत्तावाद मनोविज्ञान से बाहर ले आया है। मानवीय स्थिति का सत्तावादी वर्णन इतना अन्तर्दर्शनपूर्ण और भावनात्मक नहीं जैसा यह जेम्स के मनोविज्ञान में था, पर यह सामाजिक रूप से अन्तर्मुख तथा रोमानी है। प्रार्थना के समय जिस दिव्य उपस्थिति और ईश्वर के साथ वैयक्तिक सम्बन्धों की जेम्स ने मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है, वे वे ही अनुभव हैं जिनका वर्णन सत्तावादी धर्म-शास्त्रियों ने 'अतीन्द्रिय परसत्ता के साथ वस्तुगत सम्बन्ध' के रूप में किया है। वर्णन किए गए अनुभव सर्वथा वैयक्तिक हैं, पर अनुभवों की पृष्ठभूमि चेतना की दशाओं से बदल कर सामाजिक स्थितियों की हो गई है। जिसे जेम्स धार्मिक भूख का परिवर्तन कहता है, उसे अब सांस्कृतिक रूपान्तरण माना जाता है। इस काल में दार्शनिक विश्लेषण ने आम तौर पर जिस वस्तुगत, सामाजिक, यथार्थवादी प्रवृत्ति का अनुसरण किया है, वही धर्म के विश्लेषण में भी दिखायी देती है।

लेकिन सत्तावादी विश्लेषण की प्रकृति जेम्स के मनोविज्ञान की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। बीच में घटी दर्दनाक घटनाओं की छाप इस-पर पड़ी है। एक सच्चे वैज्ञानिक के समान जेम्स अपने धार्मिक रोगियों और उनके आवेशों से अलग होकर, निरावेशरूप से उनकी बात के औचित्य का मूल्यांकन कर सकता था; पर आज का सत्तावादी बढ़ती

हुई धर्म-निरपेक्ष रुचियों के बीच धर्म के कार्य को अपना पवित्र कर्त्तव्य माने हुए है। उन दिनों धर्म विज्ञान से समझौता करना तथा अपना औचित्य सिद्ध करना चाह रहा था, जब कि आज धर्म को अपनी सत्ता के लिए उन प्रबल सांस्कृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ रहा है जो इसे लापरवाही तथा घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इस शताब्दी का पहले चतुर्थांश में 'वैज्ञानिक युग में धर्म' पर अनेक पुस्तकें थीं; और उनमें विज्ञान से तात्पर्य 'प्राकृतिक विज्ञान' से था। इस प्रसंग में सबसे उचित धर्म निरावेशता की भावना का प्रतीत होता है। वाल्टर लिपमैन ने, जिस पर जेम्स और सान्तायना का प्रभाव था, निसस्वार्थता को ऊँचा धर्म बताया था। उस समय पक्षपात और आग्रह से ऊपर उठकर, स्पिनोजा की तरह ईश्वर को बौद्धिक रूप से प्यार करना और समझने में ही शान्ति पाना उस समय पवित्रता और आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा माना जाता था। धर्म का प्रसंग आज कितना बदल गया है। आज तो धर्म वचन-बद्धता, निर्णय, विश्वास और वैयक्तिक उत्तरदायित्व का नाम हो गया है, और आज धार्मिक होने के लिए ऐतिहासिक निर्णयों में भाग लेना आवश्यक है।